विषय-सूची

भूमिका

मनोविज्ञान बहुत बड़ा शास्त्र है ; उसके संक्षिप्त वर्णन में भी एक बृहत्कलेवर पुस्तक तैयार हो जाय। साथ ही बहुत टेढ़ा शास्त्र है, इसलिये कि दो-ढाई हजार वर्ष क्या, दो-ढाई सौ वर्ष पहले एतच्छास्त्र-संबंधी जो बात सही मानी जाती थी, आज वह ग़लत मानी जाती है। अभी तीस ही चालीस वर्ष में, हम लोगों के देखते-देखते, इस शास्त्र ने अनेकों पल्थे खाए, अनेकों रूप धारण किए। भारतीय दर्शन-शास्त्रों ने अपनी निर्माणावस्था में जो-जो भी रँग बदले हों, उनका अनुमान-मात्र हम कर सकते हैं, परंतु उनके अंतिम रूप जो निर्णीत हो गए, वही प्रमाणान्वित माने जाने लगे, किसी को उन पर पुन: विचार करने की न आवश्यकता ही हुई, और न साहस ही हुआ। परिस्थितियाँ बदलती गईं, परंतु वे शास्त्र वैसे-के-वैसे ही बने रहे। उनके विरोध में एक शब्द भी कहकर 'नास्तिकता' की कालिमा अपने मुख पर कौन लगाए ?

परंतु पाश्चात्य देशों के लोग, कम-से-कम आधुनिक काल में, अधिक विचार-स्वातंत्र्य रखते हैं। यदि उनके अनुभव और विचार में कोई नवीन बात आ जाती है, तो वे उसे निर्भीकता से कहते हैं। इतना ही नहीं, वे अपनी प्रयोगशालाओं में अनेकों नवीन प्रयोग करते रहते हैं, और उन्हीं के आधार पर अपने नवीन सिद्धान्तों को स्थिर करते हैं। उनको यह कहने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं होता कि अमुक-प्रतिपादित सिद्धांत अशुद्ध हैं; वे अपनी युक्तियों से, प्रयोगों से, अपनी बात को सिद्ध करते हैं।

यही बात मनोविज्ञान के संबंध में भी हुई। लोगों ने उसकी परिभाषा तक एक बार नहीं अनेक बार, बदल डाली। पहले माना जाता था कि मनोविज्ञान में 'आत्माओं' की क्रियाओं का वर्णन होता है। किसी आचार्य ने कहा कि आत्मा के अस्तित्व तथा उसकी क्रियाशीलता का वर्णन दर्शन-शास्त्रों ही में सीमित रक्खो. उसका बंधन मनोविज्ञान में न लगाओ। मनोविज्ञान को इस विचार की आवश्यकता नहीं कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं, उसके लिये 'मन' का अस्तित्व मान लेना पर्याप्त है। आगे चलकर 'मन' की परिभाषा देना भी कठिन प्रतीत हुआ, तब किसी आचार्य ने कहा कि हटाओजी यह भी झगड़ा, मन भी यदि कुछ है, तो आत्मा ही की तरह एक अनिर्वचनीय पदार्थ है; तुम्हारे लिये इतना मान लेना काफ़ी है कि मनोविज्ञान में 'चेतना' की क्रियाओं का वर्णन होता है। कुछ दिन पीछे चेतना का रँग भी फीका पड़ गया; आचार्यों ने कहा कि हमें तो दृष्ट-प्रमाण चाहिए, अदृष्ट नहीं; तब 'व्यवहार' (Behaviour) का बोल-बाला हुआ, अर्थात् यह माना गया कि जैसा व्यवहार बाहर दृष्टिगोचर हो उसी से मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का अनुमान करना चाहिए। इसी प्रकार की अन्य वैज्ञानिक सम्मतियाँ भी विविध आचार्यों ने प्रकट कीं। अब मनोविज्ञान की स्थिति प्रायः प्राणि-शास्त्र (Biology) के सिद्धान्तों पर अवलंबित मानी जाती है, और उसकी पुष्टि प्रयोगात्मक क्रियाओं (Experiments) के फलों से होती है।

'शिक्षा-मनोविज्ञान' साधारण मनोविज्ञान का एक अंग है; उसमें बच्चों की मनोवृत्तियों पर विशेष ध्यान रखना होता है, और उनकी शिक्षा-प्रणाली की स्वीकृति बाल-मनोविज्ञान के सिद्धांतों से लेनी होती है। शिक्षा का उद्देश्य क्या है, शिक्षा में कौन-कौन-से विषय सम्मिलित होने चाहिएँ—यह विषय तो

सामाजिक है, और देश-कालानुसार समाज की आवश्यकताओं को देखकर निश्चित किया जाता है, उसमें मनोविज्ञान से कोई सहायता नहीं मिलती। परंतु समाज जो विषय शिक्षा के लिये निर्धारित कर देता है, उसके पढ़ाने की प्रणाली एकमात्र मनोविज्ञान पर अवलंबित है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मनोविज्ञान के दृष्टि-कोण बदलने से शिक्षा-प्रणाली के दृष्टि-कोण भी बदलते हैं। उदाहरणार्थ, इस विषय को इस प्रकार पढ़ाना चाहिए कि आत्मा की शक्तियों में पुष्टि हो, अथवा मानसिक शक्तियों का विकास हो, अथवा चेतना-शक्ति का प्राबल्य बढ़े, अथवा जीवन-संबंधी कार्यों में व्यवहार-कुशलता की वृद्धि हो—ये शिक्षा-प्रणाली के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं जो मनोविज्ञान के दृष्टि-कोण के बदलने के साथ-साथ बदलते रहे हैं, और जिनमें से आजकल अंतिम दृष्टिकोण पर ही अधिक बल दिया जाता है।

प्राय: बच्चों के अभिभावकों को शिकायत रहती है कि शिक्षा-विभाग में स्थिरता नहीं, आज एक प्रणाली चलती है, तो कल दूसरी आ जाती है। बात सच है, परंतु यह काम शिक्षा की उन्नति के लिए होता है, ढुलमुल-यक़ीनी से नहीं।

मनोविज्ञान के उद्देश्यों और सिद्धांतों की परिवर्तन-शीलता के कारण इस विज्ञान की पुरानी पुस्तकें इस समय के लिये पूर्ण उपयोगिता नहीं रखतीं, नवीन सिद्धांतों और नवीन उद्देश्यों को लेकर नवीन पुस्तकें आनी चाहिएँ। पाश्चात्य देशों में तो इस प्रकार की नवीन पुस्तकें निकलती ही रहती हैं, परंतु वे अँगरेज़ी तथा अन्य भाषाओं में होती हैं, और हमारे हिंदी जाननेवाले अध्यापक उनसे लाभ नहीं उठा सकते। यह हिंदी की एक त्रुटि है।

इस भारी त्रुटि का दूरीकरण इस समय श्रीमती चंद्रावती लखनपाल ने यह पुस्तक लिखकर किया है। यह वही देवी हैं

जिन्होंने "स्त्रियों की स्थिति" लिखकर अच्छी ख्याति प्राप्त की है, और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सेकसरिया-पारितोषिक की सुयोग्य पात्र समझी गई हैं।

पुस्तक के विषय में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि वह अध्यापकों के तथा इस विषय को जानने की इच्छा रखनेवाले अन्य व्यक्तियों के लिये बहुत ही उपयोगी वस्तु है। उनके जानने के योग्य कोई ऐसा विषय नहीं जिसका समावेश इस पुस्तक में न हुआ हो, सो भी आजकल के नवीन सिद्धांतों के अनुसार। पारिभाषिक शब्दों के बनाने में तो इन देवीजी की योग्यता बर-बस माननी ही पड़ेगी। इनकी विषय-स्पष्टी-करण की शक्ति भी अद्भुत है। पुस्तक में शुरू से अन्त तक सुंदर, शुद्ध, मुहाविरे-दार तथा रुचिकर भाषा का प्रयोग हुआ है। विशेष बात यह है कि पुस्तक भारतीय परिस्थिति को दृष्टि में रखकर रची गई है, उदाहरण आदि योरप से उधार नहीं लिए गए, न चुराए गए हैं, उनमें मौलिकता पाई जाती है। इससे अधिक निर्णय पाठक-वृंद स्वयं ही कर सकते हैं। लेखिका बनारस ट्रेनिंग कॉलेज में मेरी शिष्या रह चुकी हैं, अतः मैं यदि पुस्तक के विषय में कुछ अधिक प्रशंसात्मक लिखूँ, तो शायद लोगों को उसमें पक्ष-पात की झलक आने लगे। तथापि यह सफल परिश्रम करने के लिये मैं श्रीमती चंद्रावती को साधुवाद अर्पित किये बिना नहीं रह सकता। शुभम्।

बनारस
२१—७—१९३४ ई०

चंद्रमौलि सुकुल
वाइस-प्रिंसिपल, टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज

प्रारंभिक शब्द

प्रत्येक बालक माता-पिता का ही लाल नहीं, देश तथा जाति का भी बाल-गोपाल है। अगर उसका ठीक-ठीक शिक्षण हो, तो हर गोद में कृष्ण-कन्हैय्या खेल रहा है। आज का बालक कल जाति का भाग्य-विधाता बन सकता है। दूसरे देशों ने इस रहस्य को समझा है, और उनकी संपूर्ण शक्ति बालकों के विकास के साधनों पर पूरी तरह से जुटी हुई है।

बालकों के विकास का सबसे बड़ा साधन शिक्षा है। आज-कल संसार के बड़े-बड़े मस्तिष्क शिक्षा के प्रश्न को हल करने में लगे हुए हैं, और एक स्वर से 'मनोविज्ञान' को शिक्षा का आधार कह रहे हैं। बालक के मन का स्वाभाविक विकास जिस प्रकार होता है उसी के आधार पर शिक्षा के सिद्धांतों का निर्माण हो रहा है। इसी दृष्टि-कोण से एक नवीन विज्ञान ने जन्म लिया है, जिसे 'शिक्षा-मनोविज्ञान' कहा जाता है। यह पुस्तक इसी विज्ञान के नवीनतम सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के लिये लिखी गई है। अगर इस पुस्तक में प्रतिपादित तत्वों को समझा जाय, तो जिसके हाथ में बालकों का निर्माण करने का महान् उत्तरदायित्व है, ऐसे प्रत्येक माता-पिता तथा शिक्षक के लिये यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। मुझे आशा है कि ट्रेनिंग स्कूलों तथा कॉलेजों के विद्यार्थियों एवं 'मनोविज्ञान' तथा 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का अध्ययन करने के इच्छुक अन्य व्यक्तियों के लिये भी पुस्तक उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

पुस्तक के लिखने में मुझे प्रो० वेंकटेश्वरन, प्रो० चन्द्रमौलि सुकुल तथा प्रिंसिपल लज्जाशंकर झा से बहुत सहायता मिली है। मैं विशेष तौर

पर प्रो० वेंकटेश्वरन की आभारी हूँ। बनारस में पढ़े हुए को आधार बनाकर ही मैं इस गहन विषय पर लेखनी उठाने का साहस कर सकी हूँ, और वहाँ पढ़ते हुए ही मेरे हृदय में इस विषय पर कुछ लिखने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। गुरुकुल में मुझे प्रो० नंदलाल खन्ना तथा डाक्टर राधाकृष्ण से भी पर्याप्त सहायता मिली है, इसलिये इन सबकी मैं असीम कृतज्ञ हूँ। मुझे अपने पति प्रो० सत्यव्रतजी से तो बहुत अधिक सहायता मिली है, परंतु पति-पत्नी में कृतज्ञता-प्रकाशन की प्रथा अभी हमारे यहाँ नहीं चली। पुस्तक की प्रतिलिपि करने में श्रीयुत गणपति तथा श्रीयुत जगदीश ने बहुत सहायता दी है, अतः इनको भी धन्यवाद है।

'शिक्षा-मनोविज्ञान' तथा 'मनोविज्ञान' पर अंगरेज़ी में जितनी भी पुस्तकें मिल सकीं सबसे भरपूर सहायता ली गई है। उन पुस्तकों का अलग-नाम लिखा जाय, तो कई सफ़े भर जायँ। इसलिये उनका अलग-अलग नाम न लेकर सबके लिये इकट्ठा आभार स्वीकार करती हूँ।

पुस्तक में हिंदी-परिभाषाओं के साथ-साथ अंगरेज़ी शब्द भी दे दिये गये हैं, ताकि पाठकों के मन में हिंदी तथा अंगरेज़ी की परिभाषाओं द्वारा एक निश्चित विचार दृढ़ हो जाय। इसमें कहीं-कहीं दोहराना भी पड़ा है, परंतु विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से इसे उचित ही समझा गया है। इनवर्टेड कामा '—' का तो ख़ूब प्रयोग किया गया है। यह इसलिये क्योंकि इससे शब्द का अर्थ निश्चित-सा, सिमटता-सा प्रतीत होता है। दूसरी भाषाओं में इनवर्टेड कामा का प्रयोग इतना नहीं होता, परंतु एक दार्शनिक विषय को ऐसी भाषा में विशद करने के लिये, जिसमें पारिभाषिक शब्दों का अत्यंत अभाव हो, मुझे ऐसा करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिये अंत में शब्दानुक्रमणिका दी गई है, जो 'अनुक्रमणिका' (Index) तथा 'शब्द-कोष' (Glossary)

दोनो का काम दे सकती है। अंत में उन विद्वानों की नामावलि भी दी गई है, जिनके सिद्धांतों का पुस्तक में जगह-जगह उल्लेख है। ये अनुक्रमणिकाएँ हिंदी में न देकर अंगरेज़ी में दी गई हैं। हिंदी में शब्दों के अर्थ अभी निश्चित नहीं हुए, इसलिये अंगरेज़ी का शब्द देकर उसके साथ उसका हिंदी-पारिभाषिक शब्द दे दिया गया है। पुस्तक में विद्वानों के जो नाम दिये गये हैं, उनके अंगरेज़ी में क्या हिज्जे होते हैं, इन्हे विशद करने के लिये उनके नाम अंगरेज़ी में दे दिये हैं। आशा है, विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के लिये ये अनुक्रमणिकाएँ बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी। इनके तैयार करने में श्रीयुत ओमप्रकाश ने बहुत सहायता दी है, अतः उनको धन्यवाद है।

हिंदी में लेखिकाएँ 'मैं गई' तथा लेखक 'मैं गया' लिखते हैं। ऐसे प्रयोगों से बचने के लिये पुस्तक में 'हम गये'—इस प्रकार का बहु-वचन प्रयोग किया गया है, और 'हम गईं' नहीं लिखा गया। ज्यों-ज्यों स्त्री-लेखिकाएँ बढ़ती जायँगी, मैं समझती हूँ, इसी प्रकार के प्रयोग को पसंद करेंगी।

हिंदी-माता की आराधना का मंदिर कभी का खड़ा हो चुका है। उसकी पूजा की होड़ में मेरा यह 'पत्र-पुष्प' भेंट है। मुझे आशा है, इसे और कुछ नहीं तो 'तुलसी-दल' समझकर ही स्वीकार किया जायगा।

—चंद्रावती लखनपाल.

शिक्षा-मनोविज्ञान

प्रथम अध्याय

'शिक्षा-मनोविज्ञान' का विकास

योरप में 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का विकास किस प्रकार हुआ, इसे समझने के लिये वहाँ के 'शिक्षा' के इतिहास पर एक सरसरी दृष्टि डालना आवश्यक है। इससे हमारे सम्मुख यह स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न लहरों के परिणाम-स्वरूप 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की स्थापना हुई।

योरप में, सोलहवीं शताब्दी में, ग्रीक तथा रोमन भाषा और साहित्य का पढ़ाना ही 'शिक्षा' का उद्देश्य समझा जाता था। उस समय के लोगों का कथन था कि मानव-जाति की उन्नति के लिये इन भाषाओं का, और इन भाषाओं में पाए जानेवाले साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, इनका पढ़ाना ही वास्तविक शिक्षा है। वे लोग सिसरो (१०६–४३ ई० पू०) के ग्रन्थों को पाठशालाओं में पढ़ाते थे, ओविड (४३ ई० पू०–१८ इ० पू०)

तथा टेरेन्स (१६४–१५८ ई० पू०) की कविताओं में विद्यार्थियों को लगाए रखते थे। क्योंकि वे इन भाषाओं तथा इनके साहित्य के शिक्षण को मानव-जाति की उन्नति के लिये आवश्यक समझते थे, इसलिये वे ग्रीक तथा लैटिन के अध्ययन को 'मनुष्योपयोगी शिक्षा'—'ह्यूमेनिस्टिक स्टडीज़' (Humanistic Studies)—का नाम देते थे। 'ह्यूमेनिस्टिक स्टडीज़'-शब्द ने शिक्षा-विज्ञान में एक पारिभाषिक रूप धारण कर लिया है, इसका अर्थ हो गया है, ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं और उनके साहित्य का अध्ययन। जो लोग ग्रीक तथा लैटिन के अध्ययन पर इस प्रकार बल देते थे, उन्हें शिक्षा-विज्ञान की पुस्तकों में 'ह्यूमेनिस्ट' कहा जाता है। ऐसे लोगों में इरेस्मस (१४६७–१५३६) का नाम विशेष उल्लेख-योग्य है। उसका कहना था, अगर मेरे पास रुपया होगा, तो पहले मैं ग्रीक-पुस्तकें ख़रीदूँगा, फिर कुछ बच जायगा, तो कपड़ों की फ़िक्र करूँगा।

'ह्यूमेनिस्ट' लोगों के इस प्रकार ग्रीक तथा लैटिन से चिपटने का परिणाम यह हुआ कि इस विचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी। इस प्रतिक्रिया को शिक्षा-विज्ञान के इतिहास में 'यथार्थवाद'—'रीयलिज़्म' (Realism)—कहा जाता है। 'यथार्थवाद' के मुख्य तौर पर तीन विभाग किये जाते हैं:—

१. 'ह्यूमेनिस्टिक यथार्थवाद' (Humanistic Realism)

२. 'सामाजिक यथार्थवाद' (Social Realism)

३. 'इन्द्रिय यथार्थवाद' (Sense Realism)

(१). 'ह्यूमेनिस्टिक यथार्थवाद', 'ह्यूमेनिज़्म' के विरुद्ध प्रतिक्रिया तो था, परन्तु फिर भी यह वाद 'ह्यूमेनिज़्म' के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटता था। इन दोनो में यह समानता थी कि दोनो के विचारों में ग्रीक तथा लेटिन का अध्ययन मनुष्य-समाज की उन्नति में परम सहायक था। दोनो मानते थे कि इन भाषाओं में मानव-जाति के उच्च-से-उच्च विचार भरे पड़े हैं। हाँ, इन भाषाओं के अध्ययन के उद्देश्य के संबंध में दोनो का विचार भिन्न-भिन्न था। 'ह्यूमेनिस्ट' लोग ग्रीक तथा रोमन-साहित्य पढ़ाते हुए विद्यार्थी को ग्रीक तथा रोमन ही बना देना चाहते थे, परंतु 'ह्यूमेनिस्टिक यथार्थवादी' केवल इतना चाहते थे कि ग्रीक तथा रोमन पढ़कर विद्यार्थी उन भावों तथा आदर्शों का मनन करे जो उक्त साहित्य का निर्माण करनेवालों के हृदय में काम कर रहे थे। इस श्रेणी के विद्वानों में रेबेलियस (१४८३–१५५३) तथा जॉन मिल्टन (१६०८–१६७४) का नाम विशेष उल्लेख-योग्य है।

(२). 'सामाजिक यथार्थवादियों' का कथन था कि अगर पढ़-लिखकर आदमी निरा किताबों का कीड़ा रहा, तो उस पढ़ाई का क्या फ़ायदा। हमारी पढ़ाई से हमारा इतना मानसिक विकास हो जाना चाहिए कि हम दुनिया में कार्य-कुशल व्यक्ति समझे जायँ, निरे ग्रीक और लैटिन बोलने लायक़ ही न रहें। ये लोग जीवन को क्रियात्मक-रूप में सफल बनानेवाली शिक्षा पर अधिक ज़ोर देते थे। इस विचार के लोगों का कथन था कि घूमने-फिरने

से, दुनिया देखने से, भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आने से किताबों की अपेक्षा अधिक उपयोगी शिक्षा प्राप्त होती है। इस विचार के फैलानेवालों में मौन्टेन (१५३३–१५६२) मुख्य समझा जाता है।

(३). अभी कहा गया कि 'यथार्थवाद', 'ह्यूमेनिज्म' के प्रति प्रतिक्रिया का परिणाम था। यह प्रतिक्रिया उक्त दो प्रकार—'ह्यूमेनिस्टिक यथार्थवाद' तथा 'सामाजिक यथार्थवाद'—के रूप में तो हुई ही थी, परंतु इतना ही काफ़ी नहीं था। इस प्रतिक्रिया का उग्र रूप 'इन्द्रिय यथार्थवाद' (Sense Realism) में हुआ। 'इन्द्रिय यथार्थवाद' में उक्त दोनो प्रकार का 'यथार्थवाद' (Realism) शामिल था, परंतु उसके साथ-साथ इसमें कुछ अधिकता भी थी।

वर्तमान 'नवीन शिक्षा-विज्ञान' में जो-जो भी लहरें दिखलाई दे रही हैं उन सबका सूत्रपात सत्रहवीं शताब्दी में 'इन्द्रिय यथार्थ-वाद' (Sense Realism) द्वारा ही हुआ। 'इन्द्रिय यथार्थ-वाद'-शब्द अपने अभिप्राय को स्वयं स्पष्ट कर देता है। इसका अभिप्राय यह है कि हमें शिक्षा में 'स्मृति' द्वारा अधिक काम न लेकर 'इन्द्रियों' (Senses) द्वारा—आँख, कान, हाथ, पैर द्वारा—अधिक लेना चाहिए। अब तक शिक्षा बहुत कुछ स्मृति का, रटने का, विषय बनी हुई थी, इन्द्रियों से न के बराबर काम लिया जाता था। विद्यार्थियों को बहुत-से शब्द याद होते थे, परंतु उन्होंने उन शब्दों से अभिप्रेत वस्तुओं को कभी न देखा

होता था। वे अक्सर ग्रीक और लैटिन रटा करते थे, उन्हें विज्ञान आदि से परिचय न होता था। सत्रहवीं शताब्दी में जब विज्ञान की बातें फैलने लगीं, कॉपर्निकस (१४७३–१५४३) ने सूर्य को विश्व का केंद्र सिद्ध किया, गैलिलियो (१५६४–१६४२) ने दूर-वीक्षण यंत्र का आविष्कार किया, हार्वे (१५७८–१६५७) ने शरीर में रुधिर की गति का पता लगाया, न्यूटन (१६४२–१७२७) ने पृथिवी की गुरुत्व-शक्ति का प्रतिपादन कियो, तब एकदम शिक्षा-विज्ञानियों में भी हलचल मच गई। अब तक तो यह समझा जाता था कि शिक्षा का अभिप्राय लैटिन और ग्रीक पढ़ा देना है, विद्यार्थियों को जितना हो सके उतना रटवा देना है, परंतु विज्ञान की दिनोदिन बढ़ती ने उनके विचारों में परिवर्तन कर दिया। विज्ञान की इस बाढ़ का शिक्षा-विज्ञान पर दो तरह का असर हुआ। पहला असर तो यह था कि शिक्षा-विज्ञान का रुख़ लैटिन और ग्रीक (Classics) से हटकर विज्ञान (Sciences) पढ़ाने की तरफ़ हो गया; दूसरा असर यह था कि शिक्षा-विज्ञानियों का ध्यान शिक्षा-मनोविज्ञान (Educational Psychology) की तरफ़ भी जाने लगा। उन्होंने देखा कि प्रकृति की गोद में स्वयं पाई हुई शिक्षा स्कूलों की कृत्रिम शिक्षा से कहीं बढ़कर थी। कॉपर्निकस, गैलिलियो तथा हार्वे के आविष्कार स्कूलों तथा कॉलेजों के कृत्रिम वायु-मण्डल में नहीं हुए थे। उन्होंने सोचना शुरू किया कि विद्यार्थी के मन पर किताबों का बोझ लादने के बजाय उसके मन का क्रमिक विकास

ही तो कहीं शिक्षा का मूल-मंत्र नहीं है? ये दो बातें 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' (Sense Realism) की निचोड़ थीं, और इन्हीं दोनों का विकास होते-होते आज शिक्षा-विज्ञान इतनी उन्नति तक पहुँचा है। इसमें संदेह नहीं कि 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का प्रारंभ 'इन्द्रिय यथार्थवाद' के साथ ही समझना चाहिए, परंतु अभी सत्रहवीं शताब्दी में जब 'मनोविज्ञान' की ही बहुत साधारण अवस्था थी, 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की उन्नत अवस्था तो कहाँ हो सकती थी। इन 'इन्द्रिय यथार्थवादियों' में मुख्य बेकन (१५६१–१६२६) तथा कोमेनियस (१५६२–१६७०) माने जाते हैं।

जैसा अभी कहा गया है, 'इन्द्रिय यथार्थवाद' ने शिक्षा के क्षेत्र में उथल-पुथल मचा दी। अब तक अध्यापक के लिये भिन्न-भिन्न विषयों का अगाध पंडित होना काफ़ी समझा जाता था। वह लैटिन का पंडित हो, ग्रीक का विद्वान् हो, गणित में पारंगत हो, भूगोल का आचार्य हो, बस, काफ़ी थी। अब तक शिक्षा का मैदान 'शिक्षक' के ही हाथ में था, उसमें 'बालक' को कोई न पूछता था। यह नहीं समझा जाता था कि अगर 'शिक्षक' विद्वान् तो है, परंतु 'बालक' की प्रकृति से, उसकी मानसिक रचना से परिचित नहीं है, तब भी वह उत्तम शिक्षक का काम कर सकेगा या नहीं? 'इन्द्रिय यथार्थवाद' ने जहाँ और बहुत-कुछ किया, वहाँ बालकों के मनोविज्ञान की तरफ़ भी शिक्षा-विज्ञानियों का ध्यान आकर्षित किया। 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' ने शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करके पासा ही पलट दिया, शिक्षा के संपूर्ण प्रश्न को दूसरा ही रूप दे

दिया। शिक्षा के क्षेत्र में 'उद्देश्य' (Aim), 'विधि' (Method), 'शिक्षक' (Teacher), 'विषय' (Subjects), 'बालक' (Child)—इन सबमें पहले 'शिक्षक' सब से अधिक मुख्य था, अब 'बालक' सब से अधिक मुख्य हो गया। बालक की तरफ़ सबसे पहले 'इन्द्रिय यथार्थवादी' रूसो (१७१२–१७७८) ने ध्यान खींचा। यद्यपि जॉन लॉक (१६३२–१७०४) ने भी बालक को ध्यान में रखते हुए शिक्षा-विषयक एक पुस्तक लिखी थी, तो भी बालक के मनोविज्ञान को सामने रखते हुए, 'शिक्षक' तथा 'पाठ्य-विषय' आदि की तरफ़ से खींचकर 'बालक' पर शिक्षा-विज्ञानियों का ध्यान केंद्रित करने का श्रेय रूसो को ही है। रूसो मनोविज्ञानी नहीं था, न उसे बालकों को शिक्षा देने का कोई विशेष अनुभव था, तो भी उसने 'बालक' को शिक्षा का केंद्र बनाकर शिक्षा-विज्ञान को सदा के लिये अपना आभारी बना लिया। रूसो के इन्हीं विचारों को लेकर, उन्हें संशोधित तथा परिवर्धित करने का काम पैस्टेलॉज़ी (१७४६–१८२७), हर्बार्ट (१७७६–१८४१) तथा फ्रिबल (१७८२–१८५२) ने किया। इन तीनो शिक्षा-विज्ञानियों ने शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान का ख़ूब इस्तेमाल किया। इन तीनो के शिक्षा-संबंधी परीक्षण मनोविज्ञान के सिद्धांतों पर आश्रित थे। रूसो ने तो 'एमील' (Emile) नामक ग्रंथ ही लिखा था, परन्तु पैस्टैलॉज़ी ने कई शिक्षा-संस्थाएँ खोलकर 'बालक' के संबंध में मनोविज्ञान के सिद्धांतों को क्रियात्मक रूप देने का यत्न किया।

अब से शिक्षक के लिये यह जानना जरूरी हो गया कि बालक का मानसिक विकास किस प्रकार होता है, उसमें क्या-क्या शक्तियाँ हैं और उन शक्तियों को किस प्रकार शिक्षा देने में काम में लाया जा सकता है। पहले तो यह समझा जाता था कि 'बालक' एक 'छोटा मनुष्य' है, जो नियम मनुष्य पर लागू होते हैं वही बालक पर भी लागू होते हैं, परंतु 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की लहर ने इन विचारों को एकदम बदल दिया। बालक एक छोटा मनुष्य नहीं, परंतु मनुष्य बनने के रास्ते पर है, उसे मनुष्य बनना है, इसलिये उसका मानसिक विकास "एक प्रौढ़ व्यक्ति के मानसिक विकास से सर्वथा भिन्न होगा। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की यह लहर १८वीं शताब्दी में उठी, और १९वीं तथा २०वीं शताब्दियों में लगातार वेग ही पकड़ती गई। पैस्टेलॉजी ने कहा कि शिक्षक का सबसे मुख्य कर्तव्य बालक के मानसिक विकास के नियमों का अध्ययन करके, उन नियमों के अनुकूल चलकर, उनका सहारा लेकर, शिक्षा देना है। इस प्रकार शिक्षा देने का नाम ही 'नवीन शिक्षा-विज्ञान' है। हर्बार्ट तथा फ्रिबल ने उक्त सिद्धांत का 'शिक्षा-विज्ञान' में पूरा-पूरा प्रयोग किया। अगर आज पैस्टेलॉजी जीवित होकर शिक्षा-विज्ञान का निरीक्षण करे, तो उसकी आत्मा यह देखकर गद्गद् हो जाय कि जिस बीज को उसने बोया था, वह अनुकूल परिस्थिति पाकर, लहलहाता वृक्ष बन गया है। आज 'शिक्षा-विज्ञान' 'मनोविज्ञान' के साथ घुल-मिल गया है, और दोनो के मेल से 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की उत्पत्ति हो गई है। आज

जो शिक्षक 'शिक्षा-मनोविज्ञान' को नहीं जानता वह शिक्षा की दृष्टि से सर्वथा असफल समझा जाता है। 'नवीन शिक्षा-विज्ञान' (New Education) में 'शिक्षा-मनोविज्ञान' (Educational Psychology) के सिद्धांत प्रबल रूप से काम करते हुए दिखाई दे रहे हैं। मॉन्टसरी शिक्षा-पद्धति, डाल्टन शिक्षा-पद्धति, प्रोजेक्ट शिक्षा-पद्धति आदि सब प्रकार की शिक्षा-पद्धतियों में 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के नियम ही आधार में बैठे हुए हैं। इस समय शिक्षा का प्रश्न बहुत-कुछ 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का प्रश्न बन गया है।

'शिक्षा-मनोविज्ञान' का आधार 'मनोविज्ञान' ही है। इस समय 'मनोविज्ञान' के नए-नए विभाग उत्पन्न हो रहे हैं। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' उन सबका उपयोग करने लगा है। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' 'मनोविज्ञान' की किन-किन शाखाओं से सहायता ले रहा है, इसे समझने के लिये मनोविज्ञान के आजकल जो नए-नए विभाग उत्पन्न हो गए हैं, उन्हें समझ लेना आवश्यक है।

मनोविज्ञान के मुख्य तौर पर दो विभाग किये जाते हैं:— 'स्वस्थ' (Normal) तथा 'अस्वस्थ' (Abnormal)। 'स्वस्थ मनोविज्ञान' में स्वस्थ मनुष्यों तथा पशुओं की मानसिक प्रक्रिया तथा शारीरिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है; 'अस्वस्थ मनोविज्ञान' का विषय रुग्णावस्था में मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया तथा व्यवहार कैसा हो जाता है, इसका अध्ययन करना है। 'स्वस्थ मनोविज्ञान' के निम्न विभाग किए जाते हैं:—

१. शुद्ध मनोविज्ञान (Pure Psychology)

२. वैयक्तिक मनोविज्ञान (Individual Psychology)

३. समूह मनोविज्ञान (Group Psychology)

४. सामाजिक मनोविज्ञान (Social Psychology)

५. क्रियात्मक मनोविज्ञान (Applied Psychology)

'अस्वस्थ' मनुष्यों के अध्ययन से जिस मनोविज्ञान ने जन्म लिया है, उसके दो भाग किए जाते हैं :—

१. अस्वस्थ व्यक्तियों के संबंध का मनोविज्ञान

२. अस्वस्थ व्यक्ति-समूहों के सम्बन्ध का मनोविज्ञान

'स्वस्थ मनोविज्ञान' में पाँचवाँ स्थान हमने 'क्रियात्मक मनोविज्ञान' को दिया है। इसके निम्न विभाग समझे जाते हैं :—

१. शिक्षा-मनोविज्ञान (Educational Psychology)

२. व्यावसायिक मनोविज्ञान (Industrial Psy.)

३. धर्म-मनोविज्ञान (Psychology of Religion)

उक्त दो प्रकार के—'स्वस्थ' तथा 'अस्वस्थ'—मनोविज्ञान के अतिरिक्त एक तीसरे मनोविज्ञान ने जन्म लिया है जिसे 'पशु-मनोविज्ञान' (Animal Psychology) अथवा 'तुलनात्मक मनोविज्ञान' (Comparative Psychology) कहते हैं। इस विज्ञान को अमेरिका में थॉर्नडाइक तथा वाटसन ने बहुत उन्नति दी है। पाठक इस पुस्तक को ज्यों-ज्यों पढ़ेंगे उन्हें पता चलता जायगा कि पशुओं के संबंध में किए गए परीक्षणों से 'शिक्षा' विषय पर कितना प्रकाश पड़ा है।

'पशु-मनोविज्ञान' के अतिरिक्त, शिक्षा-मनोविज्ञान खास तौर पर 'शुद्ध मनोविज्ञान', 'वैयक्तिक मनोविज्ञान', 'समूह मनो-विज्ञान' तथा 'अस्वस्थ मनोविज्ञान' से बहुत सहायता लेता है। 'शुद्ध मनोविज्ञान' मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया पर, उसके स्वभाव पर प्रकाश डालता है। बालक में क्या-क्या प्राकृतिक शक्तियाँ (Instincts) काम कर रही हैं, इन प्राकृतिक शक्तियों को किस प्रकार शिक्षा के काम में लाया जा सकता है, यह सब सहायता 'शुद्ध मनोविज्ञान' से मिलती है। ये प्राकृतिक शक्तियाँ शिक्षा की दृष्टि से इतनी आवश्यक हैं कि इनका हम एक पृथक् अध्याय में वर्णन करेंगे। इसी प्रकार, हम देखते हैं, बालक की शिक्षा एक समूह में होती है। वह प्रतिदिन स्कूल में जाता है और अन्य बालकों से मिलता-जुलता है। समूह में रहकर बालक के मन पर क्या-क्या प्रभाव पड़ते हैं, वह समूह से किस प्रकार प्रभावित होता है और समूह को किस प्रकार प्रभावित करता है, इन बातों पर 'सामूहिक मनोविज्ञान' से प्रकाश पड़ता है। शिक्षा में बालकों की भिन्न-भिन्न वैयक्तिक विशेषताएँ भी अपना स्थान रखती हैं। लड़के-लड़कियों के स्वभाव में भेद है या नहीं, किस लड़के की मानसिक योग्यता कितनी है, दूसरे लड़कों के मुक़ाबिले में उसका क्या स्थान है, इत्यादि विषय ऐसे हैं जिन पर 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' के परीक्षणों से 'शिक्षा-मनोविज्ञान' ने बहुत लाभ उठाया है। रोगियों की मानसिक रचना के अध्ययन से तो 'शिक्षा-मनोविज्ञान' ने अपने कई प्रश्न

हल करने का प्रयत्न किया है। भिन्न-भिन्न इच्छाओं को मन में दबा रखने से मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया तथा उसके व्यवहार में कई परिवर्तन आ जाते हैं। कई बालक प्रारंभ से ही मानसिक दृष्टि से रोगी या पछड़े हुए कहे जा सकते हैं। 'अस्वस्थ मनोविज्ञान' ने इन विषयों पर अनेक परीक्षण किए हैं। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के लिये ये बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।

'शिक्षा-मनोविज्ञान' बहुत-कुछ बालक की प्रकृति, उसकी प्रवृत्तियों, उसके स्वभाव, उसके व्यवहार आदि का अध्ययन है, और आज हम ऐसी स्थिति में पहुँच चुके हैं जब कि उक्त सब प्रकार के मनोविज्ञान उसकी दिल खोलकर सहायता कर रहे हैं।

शिक्षा में शिक्षक, बालक, शिक्षा का उद्देश्य, अध्यापन-विधि, विषय, अध्यापन का स्थान आदि उसके अंग गिने जाते हैं। इनमें पहले 'शिक्षक' तथा 'विषय' मुख्य समझे जाते थे, अब "शिक्षा-विज्ञान' के पिछले इतिहास ने इन सबमें 'बालक' को मुख्य बना दिया है। बालक के मुख्य होने के साथ-साथ 'अध्यापन-विधि' भी मुख्य हो गई है। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का काम 'अध्यापन-विधि' (Method of Teaching) पर प्रकाश डालना है। जब शिक्षा में 'बालक' का स्थान मुख्य है, 'शिक्षक' का नहीं, तब हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम बालक के मनोविज्ञान को खूब अच्छी तरह समझें। इस दृष्टि से 'अध्यापन-विधि' का मुख्य आधार मनोविज्ञान ही है। कई लोग शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान को इतना महत्त्व देते हैं कि उनके अनुसार

शिक्षा के 'उद्देश्य' का निर्धारण करना भी मनोविज्ञान का काम है। परंतु हम इस बात को नहीं मान सकते। शिक्षा के उद्देश्य का निर्धारण तो दर्शन-शास्त्र करेगा। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य क्या है, इस प्रश्न के साथ शिक्षा का उद्देश्य बँधा हुआ है। मनोविज्ञान से तो अध्यापन-विधि को मनोवैज्ञानिक नियमों पर ढाला जा सकता है। इस प्रकार बालक की मानसिक 'प्रक्रिया' तथा उसके 'व्यवहार' के मनोवैज्ञानिक नियमों का अध्ययन करना ही 'शिक्षा-मनोविज्ञान' है।

द्वितीय अध्याय

'मनोविज्ञान' का विकास

पिछले अध्याय में कहा गया है कि 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का विकास 'मनोविज्ञान' के विकास के आधार पर हुआ। मूल विज्ञान 'मनोविज्ञान' है। उसी की खोजी हुई बातों का शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग करके 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की नींव डाली गई है। शुरू-शुरू में 'मनोविज्ञान' बहुत प्रारंभिक अवस्था में था, उसके साथ-साथ 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का प्रारंभिक अवस्था में होना लाज़मी था। ज्यों-ज्यों 'मनोविज्ञान' तरक्क़ी करता गया, त्यों-त्यों 'शिक्षा-मनोविज्ञान' भी उन्नति की ओर पग बढ़ाता गया। इस अध्याय में 'मनोविज्ञान' के इसी क्रमिक विकास का वर्णन किया जायगा।

योरप में ईसा से छठी शताब्दी पूर्व तक शरीर से भिन्न आत्मा की पृथक् सत्ता मानने का विचार उत्पन्न नहीं हुआ था। छठी शताब्दी तक यही माना जाता था कि शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय स्वतंत्र-रूप से विषय का ज्ञान करती है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के ज्ञान को मिलानेवाली आत्मा-जैसी किसी शक्ति को अभी वे मानने नहीं लगे थे। शरीर में जब तक साँस है, प्राणी ज़िंदा है; जब फूक निकल गई, तो प्राणी भी मर गया। उस

समय के लोग उतना ही मानते थे, जितना मोटी तौर से दिखाई देता था। वे समझते थे कि मृत्यु के समय साँस मुख से निकल जाता है या वह शरीर के घावों में से उनके खुलने से निकल जाता है। छठी शताब्दी के बाद से यह माना जाने लगा कि देखने-सुनने का काम बाह्य-इन्द्रियों (Senses) का नहीं, आत्मा का है। भिन्न-भिन्न 'इन्द्रियाँ' विषयों का ज्ञान लेकर 'आत्मा' के सुपुर्द कर देती हैं। इस समय 'आत्मा' के विषय में जो चर्चा शुरू हुई, उसे मनोविज्ञान का प्रारंभ समझना चाहिए। पहले-पहल यह चर्चा ग्रीस-देश में चली।

१. पाँच सदी ई० पू० से सोलवीं शताब्दी तक

ईसा से ५वीं शताब्दी पूर्व सुकरात (४६९–३९९ ई० पू०) हुआ। वह भिन्न-भिन्न विषयों पर विवाद किया करता था। उस का कहना था कि लोग पर्याप्त 'अंत:प्रेत्तण' (Introspection) नहीं करते। अगर आत्मा है, और आत्मा में विचार रहते हैं, तो उन्हें जानने का सबसे सहज तरीक़ा 'अंत:प्रेत्तण' का ही हो सकता है। वह लोगों से बहस करता था, और बहस में उन्हें विश्वास करा देता था कि जिन बातों को वे समझते हैं कि वे मान रहे हैं, वास्तव में वे उन्हें अपने भीतर ही नहीं मान रहे होते। उसकी शिकायत थी कि लोग अपने ही विचारों को जानने के लिये पर्याप्त अंत:प्रेत्तण करें, तो उन्हें बहुत-सी नई बातें पता चलें। सुकरात ने पहले-पहल 'अंत:प्रेत्तण' की प्रक्रिया को प्रचलित करके उसे दार्शनिक विचार का आधार बना दिया। तभी से मनो-

विज्ञान में भी अंतःप्रेक्षण की प्रक्रिया का ही सदियों तक राज्य रहा।

प्लेटो (४२६–३४७ ई० पू०) ने भी मनोविज्ञान-विषयक अपने कुछ विचार प्रकट किए हैं। वह आत्मा की तीन क्रियाएँ मानता था। वे थीं, भरण-पोषण की क्रिया (Nutritive function); अनुभूति की क्रिया (Sensitive function); बुद्धि की क्रिया (Rational function)। भरण-पोषण वनस्पतियों में पाया जाता है, अनुभूति पशुओं में पाई जाती है, बुद्धि मनुष्य में मिलती है। इन सबमें जो जीवन जितना ऊँचा है, उसमें उतने अधिक गुण पाए जाते हैं; जो जितना नीचा है, उसमें उतने ही कम गुण हैं। वनस्पति में केवल भरण-पोषण है, पशुओं में भरण-पोषण तथा अनुभूति दोनो हैं, मनुष्य में भरण-पोषण, अनुभूति तथा बुद्धि तीनो हैं। मनुष्य में आत्मा की तीनो क्रियाएँ दीख पड़ती हैं, अतः वह प्राणी-जगत् में सब से ऊँचा है। शिक्षा का काम आत्मा में छिपी हुई शक्तियों का विकास करना है।

प्लेटो ने मनोविज्ञान पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा। मनोविज्ञान के संबंध में उसके कथन उसके ग्रंथों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उसके मनोविज्ञान-संबंधी विचारों का पता लगाने के लिये उसके कथनों का संग्रह करना पड़ता है। पश्चिम में मनोविज्ञान को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय अरस्तू (३८४–३२२ ई० पू०) को दिया जाता है। अरस्तू का ग्रंथ 'डी एनिमा' (De Anima)

मनोविज्ञान का ही ग्रंथ है, और १८ वीं शताब्दी के अंत तक योरप में मनोविज्ञान-संबंधी जो विचार पाठशालाओं में पढ़ाए जाते रहे, उनका उद्भव-स्थान इसी ग्रंथ को समझना चाहिए।

अरस्तू के समय मस्तिष्क को ज्ञान का केंद्र नहीं माना जाता था। अरस्तू को 'वाहक तंतुओं' (Nerves) का ज्ञान भी नहीं था। प्लेटो तो मस्तिष्क को ही ज्ञान का केंद्र मानता था, परंतु अरस्तू हृदय को ज्ञान का केंद्र कहता था। उस समय के प्रचलित विचार के अनुसार, रुधिर की नाड़ियों में वायु विद्यमान होती है और उसी से जीवन बना रहता है, यह माना जाता था। अरस्तू भी इसी विचार का माननेवाला था। शरीर के रुधिर में विद्यमान इस वायु को 'न्यूमा' (Pneuma) कहा जाता था। इस शब्द का अर्थ है, 'वायु' अथवा 'श्वास'। 'स्पिरिट' (Spirit)-शब्द का धात्वर्थ भी 'वायु' या 'श्वास' ही है। वे मानते थे कि रुधिर का 'न्यूमा' निकल जाय, तो जीवन ही खत्म हो जाय। एक तरह से 'न्यूमा' ही जीवन का आधारभूत भौतिक तत्त्व था, और क्योंकि यह रुधिर में माना जाता था, इसलिये रुधिर के उद्भव-स्थान 'हृदय' को ही ज्ञान-शक्ति का केंद्र समझा जाता था।

मनुष्य को जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसके विषय में अरस्तू का अपना ही विचार था। आजकल हम कहते हैं कि पदार्थ से उत्पन्न हुई प्रकाश की लहरें ईथर के माध्यम में से गुज़रकर, आँख के ज्ञान-वाहक तंतुओं (Sensory nerves) को आकर

छूती हैं। ये तंतु मस्तिष्क में देखने के केंद्र को जागृत कर देते हैं, और हमें वस्तु के देखने का अनुभव होने लगता है। अरस्तू के समय, जैसा पहले कहा गया, वाहक तंतुओं (Nerves) का ज्ञान नहीं था। वह ज्ञान के कारण की मीमांसा करता हुआ, अपने शब्दों में यों कहता था कि पदार्थ से एक गति उत्पन्न होती है, वह एक ख़ास प्रकार के माध्यम में से गुज़रकर, जिसे वह डायाफ़ेनस (Diaphanous) का नाम देता था, आँख के 'न्यूमा' को आकर छूती है। 'न्यूमा' क्योंकि संपूर्ण रुधिर में गति कर रहा है, इसीलिये वह पदार्थ की गति हृदय तक पहुँच जाती है। तब हमें विषय का ज्ञान होता है। यही नियम गंध के विषय में है। पुष्प की गंध, हम तक, बीच के माध्यम में से गुज़रती हुई, नासिका के 'न्यूमा' पर अपना प्रभाव डालती है। जैसे हम आजकल भिन्न-भिन्न वाहक तंतुओं (Nerves) का मस्तिष्क में केंद्रित होना मानते हैं, वैसे अरस्तू भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के 'न्यूमा' का हृदय में केंद्रित होना मानता था। उसका यह मानना स्वाभाविक ही था। जब 'न्यूमा' रुधिर में रहता है, तब 'न्यूमा' का केंद्र हृदय को ही माना जा सकता था, मस्तिष्क को नहीं। इसीलिये अरस्तू के कथनानुसार ज्ञान हृदय से पैदा होता था। हृदय ज्ञान का केंद्र था, परंतु ज्ञान हृदय को होता हो, ऐसी बात न थी। ज्ञान होता था 'आत्मा' को, अर्थात् ज्ञान आत्मा का गुण था। अरस्तू के कथनानुसार, आत्मा में ज्ञान के अलावा अन्य भी कई गुण, कई

शक्तियाँ थीं। अरस्तू का मनोविज्ञान आत्मा की इन भिन्न-भिन्न शक्तियों (Faculties) का अध्ययन था। आत्मा की ये भिन्न-भिन्न शक्तियाँ क्या हैं ? किसी व्यक्ति में स्मृति-शक्ति अधिक है, किसी में कम ; इसी प्रकार किसी व्यक्ति में विचार-शक्ति अधिक है, किसी में कम। इसीलिये अरस्तू के प्रतिपादित किए हुए मनोविज्ञान को 'आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों का मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) कहते हैं। अरस्तू का प्रतिपादित किया हुआ यही विचार बहुत देर तक शिक्षा का आधारभूत विचार रहा। शिक्षक लोग कहते रहे कि विद्यार्थी में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ (Faculties) हैं, उन्हीं को विकसित करना उनका काम है। इसी दृष्टि से पाठ-विधियाँ बनाई गईं, विषयों का चुनाव किया गया। सदियों तक यही समझा गया कि जिस प्रकार शरीर के विकास के लिये ड्रिल की जरूरत है, इसी प्रकार मन के विकास के लिये मानसिक ड्रिल की आवश्यकता है। आत्मा में जो-जो शक्तियाँ (Faculties) हैं, उनकी गणना करके, उन शक्तियों को विकसित करनेवाले विषयों का चुनाव कर लिया गया। इसी का परिणाम है कि सदियों तक व्याकरण, गणित आदि क्लिष्ट तथा दुरूह विषय पढ़ाए जाते रहे। यह समझा जाता रहा कि इनका जीवन में लाभ हो या न हो, ये मन का इस प्रकार नियंत्रण कर देते हैं कि जीवन के अन्य क्षेत्रों में इन द्वारा प्राप्त की हुई नियंत्रणा (Discipline) काम आती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि १८वीं तथा

१९वीं सदी के मनोविज्ञान ने अरस्तू के आत्मा की शक्तियों (Faculties) वाले विचार को पुराने मनोविज्ञान (Old Psychology) का विचार कहकर छोड़ दिया।

अरस्तू के समय में मनोविज्ञान क्योंकि आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों का निरूपण करता था, आत्मा अथवा मन के अतिरिक्त अन्य किसी विषय की चर्चा नहीं करता था, इसलिये उस समय का मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र (Philosophy) के ही अंतर्गत था, इसकी अलग विज्ञान के रूप में स्थिति नहीं उत्पन्न हुई थी, और न इसका भौतिक विज्ञानों (Physical Sciences) के साथ ही कोई संबंध उत्पन्न हुआ था। अरस्तू के समय मनोविज्ञान पर विचार करने का तरीक़ा, सुकरात का प्रारंभ किया हुआ, अंतःप्रेक्षण (Introspection) का तरीक़ा ही था। यह तरीक़ा ऐसा था जो अन्य किसी विज्ञान में व्यवहृत नहीं किया जा रहा था, और न ही किया जा सकता था। संक्षेप में, जिस समय अरस्तू ने मनोविज्ञान की नींव डाली, उस समय इसका स्वरूप निम्न-लिखित था :—

(१). मस्तिष्क का मनोविज्ञान से संबंध नहीं जुड़ा था। अरस्तू हृदय को ज्ञान का केंद्र मानता था और वाहक तंतुओं (Nerves) के विषय से अपरिचित था।

(२). अरस्तू के समय 'आत्मा' तथा 'शरीर' का भेद माना जा चुका था। अरस्तू का मनोविज्ञान, 'आत्मा' का अध्ययन था।

इसके मनोविज्ञान को 'आध्यात्मिक संप्रदाय' (Rational School) कहा जाता है।

(३). वह आत्मा में भिन्न-भिन्न शक्तियों (Faculties) को मानता था, और शिक्षा का उद्देश्य उन्हीं शक्तियों का विकास समझता था।

(४). उसके समय मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र के अंतर्गत था। इसका भौतिक विज्ञानों (Physics, Physiology, Biology, Zoology) से संबंध नहीं जुड़ा था।

(५). इसके अध्ययन का तरीक़ा अंत:प्रेक्षण (Introspection) का तरीक़ा था।

ईसा से तीसरी सदी पूर्व योरप में दो डाक्टर हुए, जिनका नाम हेरोफ़िलस तथा इरेसिस्ट्रेटस था। यद्यपि इन्हें वाहक तंतुओं (Nerves) का प्रथम आविष्कर्ता नहीं कहा जा सकता, तो भी इन्होंने शरीर-रचना के विषय में इतने परीक्षण किए कि इन्हें तंतु-संस्थान (Nervous System) का आविष्कारक कह दिया जाय, तो अत्युक्ति न होगी। तंतु-संस्थान का आविष्कार मनोविज्ञान पर प्रभाव डाले बिना कैसे रह सकता था? दो सौ ई० प० में गेलन-नामक एक शरीर-रचना-शास्त्रज्ञ हुआ, जिसने, उक्त महानुभावों के बाद, पहले-पहल ज्ञानवाही (Sensory) तथा चेष्टावाही (Motor) तंतुओं (Nerves) के भेद का पता लगाया। यद्यपि ईसा के बाद दूसरी शताब्दी में वाहक तंतुओं का पता चल गया था, तो भी इन शब्दों की

परिभाषा में मनोविज्ञान ने अपने को प्रकट करना नहीं शुरू किया और १६वीं शताब्दी (ई० प०) तक योरप का मनोविज्ञान अरस्तू का मनोविज्ञान ही रहा, उसमें कोई फ़र्क़ नहीं आया।

२. सत्रहवीं शताब्दी

सत्रहवीं शताब्दी में योरप में गैलिलियो तथा न्यूटन के आविष्कारों से वैज्ञानिक क्रांति हुई। इस समय अनेक यंत्रों का निर्माण हुआ। दूरवीक्षण यंत्र इसी समय गैलिलियो ने बनाया। इन आविष्कारों का परिणाम यह हुआ कि सब विज्ञानों के क्षेत्र में यांत्रिक नियमों (Mechanical Laws) की दृष्टि से विचार करना एक फ़ैशन-सा हो गया। मनोविज्ञान में भी इस प्रवृत्ति ने प्रवेश किया। अब तक मनोविज्ञान में अंत:प्रेक्षण से ही काम लिया जाता था। अब टामस हौब्स (१५८८–१६७६) ने मनोविज्ञान में नवीन लहर को उत्पन्न किया। भौतिक विज्ञानों में बाह्य निरीक्षण (Experiment and Observation) के जिन साधनों का प्रयोग होता था, उसी प्रकार के साधनों का मनोविज्ञान में भी प्रयोग करने की हौब्स ने जबर्दस्त वकालत की। हौब्स के उद्योगों से मनोविज्ञान में 'अंत:प्रेक्षण' के साथ-साथ 'बाह्य-प्रेक्षण' के साधनों को इस्तेमाल करने की आवश्यकता पर जोर दिया जाने लगा। हौब्स ने अंत:प्रेक्षण को हटाया नहीं, सिर्फ़ बाह्य निरीक्षण, परीक्षण, गणना, संख्या, परिमाण, तोल आदि भौतिक विज्ञान की विधियों को मनोविज्ञान के अध्ययन में जोड़ दिया।

जहाँ सत्रहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों की प्रवृत्ति

से मनोविज्ञान में बाह्य-परीक्षण को प्रोत्साहन मिला, वहाँ उस समय के प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्टे (१५६६-१६५०) के विचारों से भी हौब्स के विचारों को बहुत पुष्टि मिली। वैसे तो आत्मा तथा शरीर की पृथक्ता देर से मानी जाती थी, परंतु उन्हें पृथक् मानते हुए भी यह समझा जाता था कि आत्मा का शरीर पर और शरीर का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। डेकार्टे ने पहले-पहल यह स्थापना की कि देह तथा आत्मा सर्वथा पृथक्-पृथक् एवं स्वतंत्र सत्ताएँ हैं। जिस स्थूल काय को देह कहा जाता है, उसमें ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसे आत्मा कहा जा सके, इसी प्रकार जिस शक्ति को आत्मा कहा जाता है, उसमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जिसे देह कहा जा सके। देह का नाम लेते ही आत्मा का ख़याल छोड़ देना चाहिए; आत्मा का नाम लेते ही देह का ख़याल छोड़ देना चाहिए। दोनो तत्त्व एक-दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। शरीर का आत्मा से कोई संबंध नहीं, आत्मा का शरीर से कोई संबंध नहीं। यद्यपि जब हम कोई इन्द्रियानुभव करते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है कि शरीर का आत्मा पर प्रभाव पड़ा, इसी प्रकार जब हम कोई इच्छा-पूर्वक कार्य करते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है कि आत्मा का शरीर पर प्रभाव पड़ा, तो भी यथार्थ में, कम-से-कम शरीर का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शरीर तथा आत्मा अपना स्वतंत्र जीवन बिताते हैं। शरीर एक 'यंत्र' (Machine) की तरह चलता है। क्योंकि डेकार्टे पशुओं में आत्मा नहीं मानता था, इसलिये

अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये वह पशुओं का दृष्टांत देता है। पशु जो कुछ करता है, यंत्र की तरह करता है। उसके शरीर में 'ज्ञान' (Sensation) जाता है; उसका परिणाम 'चेष्टा' (Motion) स्वयं हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी यंत्रवत् चल रहा है। हाँ, पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में इतना भेद है कि जहाँ पशु में आत्मा नहीं, वहाँ मनुष्य में आत्मा है। मनुष्य में जिन कामों में तो आत्मा दखल नहीं देता, वे तो ठीक पशुओं के शरीर की तरह यंत्रवत् चलते रहते हैं; परंतु जिन कामों में आत्मा दख़ल देता है, अर्थात् जिन कार्यों में ऐसा अनुभव होता है कि आत्मा अपनी इच्छा-पूर्वक किसी कार्य को शरीर से करवा रहा है, वहाँ वह मस्तिष्क के ज़रिये काम करता है। डेकार्टे कहता था कि मस्तिष्क में भी एक ख़ास ग्रंथि है, जिसके द्वारा आत्मा शरीर का नियंत्रण करता है। इस ग्रंथि को 'पीनियल ग्लैंड' कहते हैं। संक्षेप में, डेकार्टे का कथन था कि जब इन्द्रिय से मस्तिष्क तक कोई ज्ञान पहुँचता है, तो उसकी प्रक्रिया इस प्रकार होती है: इन्द्रिय से मस्तिष्क तक कुछ शिराएँ हैं जिनमें एक ख़ास प्रकार का द्रव रहता है। विषय के संपर्क में आकर इस द्रव में गति उत्पन्न हो जाती है। यह गति मस्तिष्क तक पहुँचती है। वहाँ पहुँच-कर इस क्रिया की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, और यह गति पीछे को लौटती है, और बस, प्राणी की मांसपेशियाँ (Muscles) काम करने लगती हैं। डेकार्टे ने इस प्रकार मानसिक व्यापार

को भौतिक गति (Physical Motion) की परिभाषा में प्रकट करने का प्रयत्न किया।

डेकार्टे की इस मीमांसा के अनुसार जहाँ पशु एक प्रकार के यंत्र थे, वहाँ मनुष्य भी यंत्र ही थे। उसकी इस मीमांसा के आधार पर मनुष्य की क्रियाओं को भौतिक विज्ञान के नियमों की दृष्टि से हल किया जाने लगा। हम किसी भी प्रकार की क्रिया क्यों करते हैं ? बाह्य विषय (Stimulus) का इन्द्रिय पर प्रभाव पड़ता है; यह प्रभाव जब दिमाग़ में पहुँचता है, तो वहाँ स्वयं एक प्रतिक्रिया (Response) उत्पन्न हो जाती है, और हम काम कर डालते हैं। इस दृष्टि से शरीर उन्हीं नियमों पर काम कर रहा है, जिन पर एक यंत्र काम करता है। हम बटन दबाते हैं, बिजली जग जाती है ; इसी प्रकार हमें काँटा लगता है, हमारा हाथ अनायास उधर दौड़ जाता है। इस प्रकार की अनायास-क्रिया को मनोविज्ञान की परिभाषा में 'सहज-क्रिया' (Reflex Action) कहते हैं। सहज-क्रियाओं के दृष्टांत द्वारा डेकार्टे ने मानसिक प्रक्रिया को यांत्रिक नियमों में ढालने का प्रयत्न किया।

डेकार्टे तथा हौब्स लगभग समकालीन थे। डेकार्टे पशुओं को यंत्र की तरह समझता था, मनुष्यों को नहीं ; हौब्स पशुओं तथा मनुष्यों दोनो को यंत्र की तरह चलनेवाला कहता था। इन दोनो विचारकों ने मनोविज्ञान को 'आत्मा' से अलग कर लिया। उन्होंने कहा कि आत्मा का अध्ययन करना अध्यात्म-

विद्या (Metaphysics) का काम है। मनोविज्ञान का काम तो उन मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करना है जो शरीर के यंत्रवत् चलने से शरीर में हो रही हैं। इन विचारकों की विचार-प्रणाली को सत्रहवीं शताब्दी की गैलिलियो तथा न्यूटन की विचार-प्रणाली ने अपने रंग में रंग लिया था। अगर परमात्मा को बिना माने भी संसार का संचालन करनेवाले अनेक नियमों का पता चलाया जा सकता था, तो शरीर में आत्मा हो या न हो, इस विचार को सर्वथा अलग रखकर भी, मनुष्य की मानसिक क्रियाओं का, जो चेष्टा तथा व्यवहार में अपने को प्रकट करती हैं, अध्ययन किया जा सकता था। बस, हौब्स तथा डेकार्टे का यही कहना था।

इस समय डेकार्टे के विचारों का मनोविज्ञान पर एक और भी प्रभाव पड़ा। उसने शरीर तथा आत्मा के पारस्परिक भेद की मीमांसा की थी। उसने कहा था कि आत्मा अथवा मन का हमें अनुभव 'चेतना' द्वारा होता है। 'आत्मा', 'मन' आदि शब्द ऐसे हैं जिनका स्पष्ट अर्थ किसी की समझ में नहीं आता ; चेतना (Consciousness)-शब्द ऐसा है जिसका अनुभव प्रत्येक को होता है, इसलिये अब से मनोविज्ञान का विषय 'आत्मा' या 'मन' न रहकर 'चेतना' (Consciousness) हो गया।

हौब्स तथा डेकार्टे ने पुराने मनोविज्ञान में नए विचारों का संचार किया था। इन्होंने जिन विचारों को जन्म दिया, वे ही वर्तमान मनोविज्ञान के आधार में काम कर रहे हैं। इनके प्रभाव से

१७वीं शताब्दी में मनोविज्ञान में जो नई लहरें प्रविष्ट हुईं, वे निम्न थीं:—

(१). मनोविज्ञान अब तक 'आत्मा' या 'मन' का विज्ञान था ; अब यह 'चेतना' का विज्ञान समझा जाने लगा।

(२). इस समय मनोविज्ञान भौतिक विज्ञानों के अधिक संपर्क में आया और इसमें बाह्य-निरीक्षणों तथा परीक्षणों (Observation and Experiment) का प्रयोग होना चाहिए, ऐसी चर्चा चल पड़ी।

(३). परंतु इसका यह मतलब नहीं कि अंत:प्रेक्षण के साधन को मनोविज्ञान ने छोड़ दिया। इस समय भी मनोविज्ञान का मुख्य साधन अंत:प्रेक्षण ही था। अब तक 'आत्मा' या 'मन' का अंत:प्रेक्षण होता था, अब समझा जाने लगा कि 'आत्मा' या 'मन'-जैसे अनिश्चित शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा 'चेतना' (Consciousness)-जैसे अधिक निश्चित शब्द का प्रयोग उपयुक्त रहेगा। यह कहा गया कि अंत:प्रेक्षण तो ठीक है, परंतु यह कहने के बजाय कि हम 'आत्मा' का अंत:प्रेक्षण करते हैं, ऐसा कहना अधिक उपयुक्त है कि हम 'चेतना' का अंत:-प्रेक्षण करते हैं।

३. अठारहवीं शताब्दी

१८वीं शताब्दी में मनोविज्ञान के अध्ययन में और अधिक परिवर्तन हुआ। अभी कहा गया कि अब तक 'आत्मा' या 'मन' की परिभाषा में बातचीत होती थी, अब 'चेतना' की परिभाषा

में बात होने लगी। 'आत्मा' है या नहीं, इसे कौन जानता है? मन को किसने देखा है? हाँ, हम अनुभव करते हैं कि हम में चेतना है; हम में विचार आते हैं, जाते हैं, इससे कौन इनकार कर सकता है। हमारी चेतना प्रत्यय-शून्य है। उसमें, बाहर से, विचार, प्रत्यय, आते-जाते रहते हैं। मन एक खाली पट्टी (Tabula rasa) के समान है; ज्यों-ज्यों वह संसार के संपर्क में आता है, त्यों-त्यों वह प्रत्ययों (Ideas) का संग्रह करता जाता है। इन प्रत्ययों का आपस में संबंध जुड़ता जाता है। ये विचार मनोविज्ञान को 'चेतना के अध्ययन करनेवाला विज्ञान' कहने के अवश्यंभावी परिणाम थे। जॉन लॉक (१६३२–१७०४) ने ये विचार प्रकट किए। इन विचारों से 'प्रत्यय-संबंध' (Association of Ideas) के सिद्धांत का सूत्रपात हुआ।

जॉन लॉक ने जिन विचारों को प्रकट किया उन्हें डेविड ह्यूम (१७११–१७७६) ने और अधिक फैलाया। उसने कहा कि हमारी चेतना में एक 'प्रत्यय' (Idea) होता है, उसके बाद दूसरा आता है। इस प्रकार चेतना का प्रवाह चल पड़ता है। जो प्रत्यय इस समय हमारी चेतना में है, उससे मिलता-जुलता या उसका विरोधी प्रत्यय दूसरे क्षण आ जाता है, इससे ज्ञात होता है कि प्रत्ययों का परस्पर संबंध रहता है। हमारी स्मृति, स्वप्न, अनुभव सब कुछ 'प्रत्यय-संबंध' के सिद्धांत (Association of Ideas) से समझ पड़ जाता है। १८वीं शताब्दी में मनोविज्ञान ने इसी रूप को धारण कर लिया और मनोविज्ञान

में इस 'प्रत्यय-संबंध मनोविज्ञान' (Associationist Psychology) का प्रवर्तक ह्यूम समझा जाने लगा। ह्यूम ने कार्य-कारण के नियम पर भी इसी दृष्टि से विचार किया है। कारण में कोई ऐसी अद्भुत शक्ति नहीं जिससे कार्य उत्पन्न हो जाता है। कारण के पीछे कार्य आ जाता है, इन दोनों का संबंध (Association) है, इससे अधिक हम कुछ नहीं कह सकते। इसी प्रकार एक 'प्रत्यय' के बाद दूसरा 'प्रत्यय' आता है, इन दोनों का संबंध (Association) है, इससे अधिक कुछ कहने का हमें अधिकार नहीं। यह कहना कि आत्मा के अंदर से ये प्रत्यय उत्पन्न होते हैं, अनधिकार-चेष्टा है।

मनोविज्ञान ने 'चेतना' का अध्ययन शुरू किया, और चेतना का अध्ययन करते-करते यह परिणाम निकाला कि चेतना का अध्ययन 'प्रत्ययों के परस्पर संबंध' (Association of Ideas) का ही अध्ययन है। अगर यह बात ठीक है, तो अरस्तू का यह विचार कि आत्मा में अनेक गुण, अनेक शक्तियाँ (Faculties) होती हैं, ठीक नहीं ठहरता। हम जिस गुण को भी आत्मा की शक्ति कहेंगे, उसका विश्लेषण किया जाय, तो वह 'प्रत्यय-संबंध' (Association of Ideas) के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। अगर यह कहा जाय कि अमुक व्यक्ति की स्मृति-शक्ति बहुत तीव्र है, तो 'प्रत्यय-संबंध' के सिद्धांत को माननेवाला मनोवैज्ञानिक (Associationist) कह देगा कि उस व्यक्ति की स्मृति-शक्ति तीव्र नहीं है, परंतु वह एक 'प्रत्यय' का दूसरे 'प्रत्यय' से संबंध

ठीक तौर से स्थापित कर सकता है, तुम नहीं कर सकते, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी स्मृति-शक्ति तीव्र है, तुम्हारी नहीं। अगर तुम भी एक प्रत्यय का दूसरे प्रत्यय से संबंध अपने दिमाग़ में जोड़ लो, तो तुम्हारी भी स्मृति-शक्ति तीव्र मालूम देगी। और, क्या ऐसा होता नहीं है? तुम भले ही अपनी स्मृति-शक्ति कितनी कमज़ोर समझते रहो, कई घटनाएँ तुम्हारे जीवन में भी ऐसी हुई होंगी जिन्हें तुम आमरण नहीं भुला सकते। इसका यही कारण है कि उन घटनाओं का किन्हीं बातों से ऐसा संबंध (Association) जुड़ गया है कि तुम उन्हें भुला ही नहीं सकते। हाँ, एक प्रत्यय का दूसरे प्रत्यय के साथ संबंध कैसे जुड़ता है, इसके भिन्न-भिन्न नियम हैं। अभ्यास (Frequency), नवीनता (Recency), प्रबलता (Vividness) ऐसे कारण हैं जिनसे एक प्रत्यय का दूसरे प्रत्यय से संबंध जुड़ जाता है। इन नियमों के आधार पर अगर एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय से जुड़ जाय, तो उनका बंधन अटूट हो जायगा। इसमें आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ (Faculties) मानने की ज़रूरत नहीं। इस प्रकार १८वीं शताब्दी में मनोविज्ञान ने 'प्रत्यय-संबंध' (Association of Ideas) के सिद्धांत का प्रतिपादन करके अरस्तू के आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियोंवाले मनोविज्ञान (Faculty Psychology) का बहुत कुछ निराकरण कर दिया।

१८वीं शताब्दी में मनोविज्ञान के क्षेत्र में अन्य भी कई

महत्त्व-पूर्ण बातें हुईं। जर्मनी में अंत:प्रेक्षण के आधार पर अनेक विद्वानों ने चेतना के प्रवाह के अध्ययन का प्रयत्न किया। उन दिनों अंत:प्रेक्षण खूब चला। विद्वानों ने अपनी डायरियाँ रखनी शुरू कीं। इस सब अंत:प्रेक्षण का परिणाम यह हुआ कि 'अंत:करण' को उन लोगों ने तीन हिस्सों में बाँटा। अब तक मनोवैज्ञानिक अन्त:करण के दो हिस्से करते थे: ज्ञान (Cognition) तथा कृति (Volition)। अब उन्होंने मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, का गहरा निरीक्षण करके उसके तीन हिस्से किए। वे थे, ज्ञान (Knowing); संवेदन (Feeling); कृति (Willing)। इस विभाग का श्रेय जोहन्न निकोलस टेटन्स (१७३६–१८०७)-नामक जर्मन-विद्वान् को दिया जाता है।

१८वीं शताब्दी में ही महाशय बोनेट ने इस विचार का प्रचार किया कि प्रत्येक मानसिक क्रिया तभी होती है जब कि उससे संबद्ध कोई शारीरिक क्रिया होती है। ऐसा नहीं हो सकता कि मन अपना विचार किया करे और उसी समय वाहक तन्तुओं (Nerves) में कोई क्रिया न हो रही हो। दूसरे शब्दों में, मानसिक क्रिया तभी होती है जब शरीर के ज्ञान-तंतुओं (Neural fibres) में पहले क्रिया उत्पन्न हो चुकी होती है। इसे 'ज्ञान-तंतु-मनोविज्ञान' (Fibre Psychology) का नाम दिया गया था। धीरे-धीरे मन को, अथवा चेतना (Consciousness) को ज्ञान-तंतुओं तथा मस्तिष्क की क्रियाओं का परिणाम कहा जाने लगा। केबेनिस (१७५८–१८०२) ने

इस वाद का पक्ष-पोषण किया। उसने कहा कि मस्तिष्क तथा वाहक तंतुओं (Nerves) पर ही मानसिक क्रिया आश्रित है। उसने यहाँ तक कह डाला कि जिस प्रकार आमाशय से पित्त स्रवित होता है, इसी प्रकार मस्तिष्क से विचार का रस निकलता है। उसके कथन का अभिप्राय इतना ही था कि मानसिक क्रिया वास्तव में मस्तिष्क की ही क्रिया है। इस समय से मनोविज्ञान के साथ शरीर-रचना-शास्त्र (Physiology) का संबंध बहुत घनिष्ठ हो गया। शरीर-रचना-शास्त्रियों के परीक्षणों से सिद्ध होने लगा कि मानसिक क्रियाओं का आधार तो मस्तिष्क है। इस मत को आस्ट्रिया के महाशय गाल (१७५८–१८२८) ने अपने लेखों से बहुत पुष्ट किया। गाल का कथन था कि मनुष्य की मानसिक शक्तियों के मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न केंद्र होते हैं। उन केंद्रों पर चोट लगने से मनुष्य की वे शक्तियाँ जो उन केंद्रों में होती हैं, मारी जाती हैं। गाल का एक शिष्य था जिसका नाम था स्पुरज्हीम। वह बड़ा चालाक था। उसने तथा एडिनबर्ग के जार्ज कोम्ब ने मिलकर 'कपाल-रचना-विज्ञान' (Phrenology) पर बहुत-सा साहित्य लिखा। इस विद्या का यह मतलब था कि सिर का अमुक भाग उभरा हो, तो मनुष्य में अमुक योग्यता होगी, और अमुक उभरा हो, तो अमुक योग्यता। गाल इन बातों को नहीं मानता था। गाल ज्ञान-वाहक तंतुओं (Sensory nerves), चेष्टा-वाहक तंतुओं (Motor nerves) तथा मेरुदंड (Spinal cord)

से परिचित था। वह यह भी जानता था कि मेरुदंड में भिन्न-भिन्न केंद्र हैं जो प्राणी की 'सहज-क्रिया' (Reflex action) का कारण होते हैं। 'सहज-क्रिया' की घटना तथा उसके कारण का पता, सब से प्रथम, गाल ने तथा इँगलैंड में सर चार्ल्स बेल ने एक ही समय में, १८११ में, लगाया था।

अठारहवीं शताब्दी में मनोविज्ञान में जो नवीन विचार उत्पन्न हुए थे, वे संक्षेप में निम्न थे :—

(१). मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय 'आत्मा' या 'मन' न रहकर 'चेतना' (Consciousness) हो गया था।

(२). 'चेतना' का विषय 'प्रत्यय' (Idea) है, यह माना जाने लगा था। उन्हीं प्रत्ययों के भिन्न-भिन्न प्रकार के मेल-जोल से भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस वाद को 'प्रत्यय-संबंध-वाद' (Association of Ideas) कहा जाता था।

(३). 'प्रत्यय-संबंध-वाद' का परिणाम यह हुआ कि आत्मा में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ मानने का सिद्धांत (Faculty Psychology) खंडित हो गया।

(४). अंतःप्रेक्षण से मन की तीन आभ्यंतर अवस्थाओं (Mental states) का पता लगाया गया जिन्हें ज्ञान (Knowing), संवेदन (Feeling) तथा कृति (Willing) कहा गया।

(५). मानसिक क्रिया का आधार मस्तिष्क को समझा जाने

लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि मनोविज्ञान में पहले 'आत्मा' या 'मन' पर विचार होता था, बाद को 'चेतना' पर होने लगा, परंतु उसके भी बाद अब 'चेतना' के भौतिक आधार 'मस्तिष्क' के विषय में चर्चा शुरू हो गई। 'आत्मा', 'मन' तथा 'चेतना' का अध्ययन अंतःप्रेक्षण से हो सकता था; 'मस्तिष्क' तो अंतःप्रेक्षण की वस्तु न थी। इसलिये मनोविज्ञान में मस्तिष्क के अध्ययन के प्रवेश से हौब्स की चलाई हुई बाह्य परीक्षण (Experiment) की प्रवृत्ति और अधिक बढ़ गई।

४. उन्नीसवीं शताब्दी

१९वीं शताब्दी में हर्बार्ट (१७७६–१८४१) ने मनोविज्ञान को जो विचार दिये, वे शिक्षा के क्षेत्र में भी बड़े महत्त्व के सिद्ध हुए। यद्यपि ह्यूम के दार्शनिक विचारों से आत्मा में भिन्न-भिन्न शक्तियों के होने का विचार (Faculty Psychology) मध्यम पड़ चुका था, तो भी यह विचार था बड़ा ज़बर्दस्त। हमने अभी देखा कि एक तरफ़ तो ह्यूम आत्मा में भिन्न-भिन्न शक्तियों के विचार का खंडन कर रहा था, दूसरी तरफ़ वही विचार ज्ञान, संवेदन तथा कृति के रूप में आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों के स्थान में तीन शक्तियों का निरूपण कर रहा था। हर्बार्ट ने कहा कि मानसिक प्रक्रिया को इन तीन में विभक्त करना ठीक नहीं है। मानसिक प्रक्रिया के तीन भाग करना तो फिर आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों के सिद्धांत का पुनरुज्जीवन करना है। ज्ञान, संवेदन तथा कृति अलग-अलग मानसिक शक्तियाँ नहीं हैं। ज्ञान में संवेदन

तथा कृति रहती है ; संवेदन में ज्ञान तथा कृति समाविष्ट है ; कृति में ज्ञान तथा संवेदन है। मानसिक प्रक्रिया एक वस्तु है, उसके तीन भाग नहीं हैं। आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों को मानने के विचार पर यह अंतिम प्रहार था, इसके बाद यह सिद्धांत मृत-प्राय हो गया। इससे पहले शिक्षक बालक की भिन्न-भिन्न मान-सिक शक्तियों को तीव्र करने का प्रयत्न करता था, अब हर्बार्ट के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार यह माना जाने लगा कि बालक का मन एक इकाई है, और उसका मनोवैज्ञानिक ढंग से विकास करना ही शिक्षक का कार्य है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मनोविज्ञान में 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के लिये सबसे महत्त्व-पूर्ण बात प्राणी की प्राकृतिक शक्तियों (Instincts) पर विचार करना था। इससे पहले प्राणी की प्राकृतिक शक्तियों की चर्चा तो रही थी, परंतु इस शताब्दी में इस विषय पर विशेष विचार हुआ। डार्विन (१८०६–१८८२) तथा हर्बर्ट स्पेन्सर (१८२०–१६०३) के विकास-वाद पर लिखने के बाद से यह विषय अधिक महत्त्व का हो गया। यह कहा जाने लगा कि प्राणि-जगत् में अपना जीवन क़ायम रखने तथा संतति की रक्षा के लिये कुछ प्राकृतिक शक्तियाँ होती हैं, जो उसकी मानसिक तथा शारीरिक रचना का हिस्सा होती हैं। इन्हें सीखना नहीं पड़ता, ये जन्म से प्राणी के साथ आती हैं। पशुओं के विषय में तो यह बात निस्संकोच कही जा सकती थी, परंतु कुछ विचारकों ने कहना शुरू किया कि मनुष्य में भी जन्मते-ही इस

प्रकार की कुछ प्राकृतिक शक्तियाँ होती हैं। सबसे पहले डार्विन के शिष्य प्रेयर ने इन शक्तियों की तालिका बनाकर उन्हें बच्चे पर घटाने का प्रयत्न किया। उसकी तालिका का परिशोध करके विलियम जेम्स (१८४२-१९१०) ने ५० ऐसी शक्तियों का संग्रह किया जिन्हें प्राकृतिक कहा जा सकता था। इस समय इस विषय पर प्रामाणिक व्यक्ति मैग्डूगल (१८७१), थॉर्नडाइक (१८७४) तथा वुडवर्थ समझे जाते हैं। इन लोगों ने इस विषय की गवेषणा करके 'शिक्षा-मनोविज्ञान' को अपना आजन्म ऋणी बना लिया है। हम आगे चलकर देखेंगे कि किस प्रकार बच्चे की इन्हीं प्राकृतिक शक्तियों (Instincts) को आधार बनाकर शिक्षा-विज्ञान में महत्त्व पूर्ण परिवर्तन हुए।

शुरू-शुरू में हमने देखा था कि मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र के अधिक निकट था, और भौतिक विज्ञान से बहुत दूर था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, हम देखते हैं कि दर्शन-शास्त्र की कोख में से निकलकर यह भौतिक विज्ञान के अधिक निकट आता गया। योरप में १९वीं शताब्दी तक मनोविज्ञान दर्शन से पृथक् नहीं किया जा सका था, तब तक यह विषय दर्शन के ही अंतर्गत पढ़ाया जाता था। १९वीं शताब्दी का मनोविज्ञान का पंडित जेम्स मुख्य तौर पर दार्शनिक ही समझा जाता रहा। सबसे पहले १८९० में विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान एक स्वतंत्र विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा। दर्शन-शास्त्र से दूर होने तथा शरीर-रचना-शास्त्र के निकट जाने की यह प्रवृत्ति इतनी

बढ़ी कि १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में मनोविज्ञान के लिये एक नए शब्द की कल्पना करनी पड़ी। यह 'नवीन मनोविज्ञान' 'दैहिक मनोविज्ञान' (Physiological Psychology) कहाने लगा। इस शताब्दी में मनोविज्ञान का शरीर-रचना-शास्त्र से बहुत घनिष्ठ संबंध जुड़ गया, और मस्तिष्क तथा 'तंतु-संस्थान' के संबंध में अनेक परीक्षण होने लगे। यद्यपि अब तक, बीच-बीच में, बाह्य परीक्षणों के करने की आवाज़ उठती रही थी, तो भी यह आवाज़ ही थी। मनोविज्ञान के पंडितों ने वैज्ञानिकों की तरह अपनी परीक्षण-शालाएँ (Laboratories) नहीं बनाई थीं। १९वीं सदी में मुल्लर (१८३५) तथा उसके कुछ साथियों ने दृष्टि, उच्चारण, रंग आदि के विषय में कुछ परीक्षण किए। वीबर ने १८३४ में अपने प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन किया। १८७९ में वुन्डट (Wundt) ने सबसे प्रथम मनोवैज्ञानिक परीक्षा-शाला (Psychological Laboratory) की स्थापना की। मनोविज्ञान की इस प्रगति को 'परीक्षात्मक मनोविज्ञान' (Experimental Psychology) का नाम दिया जाता है। वैसे इस विषय में आवाज़ तो हौब्स के समय से ही उठ रही थी, परंतु इसका प्रारंभ वुन्डट ने ही १९वीं सदी में किया। इस समय से मनोविज्ञान में अंतःप्रेक्षण के तरीक़े के स्थान पर बहिःप्रेक्षण के भौतिक तरीक़ों को अधिक महत्त्व का समझा जाने लगा। परीक्षात्मक मनोविज्ञान से भी 'शिक्षा-मनोविज्ञान' को बहुत सहायता मिली। थकान, अवधान, स्मृति आदि पर अनेक

परीक्षा-शालाओं में परीक्षण हुए हैं, जो शिक्षकों के बहुत काम के हैं।

हमने देखा कि किस प्रकार मनोविज्ञान ने सबसे प्रथम आत्मा अथवा मन का अध्ययन शुरू किया, उसे छोड़कर चेतना को पकड़ा, चेतना को भी छोड़कर मस्तिष्क को अपनाया। परंतु अब बीसवीं सदी में मनोविज्ञान मस्तिष्क को भी छोड़ता नज़र आ रहा है, और मनुष्य के बाह्य व्यवहार (Behavior) का अध्ययन करना ही अपना ध्येय बनाता जा रहा है। बाह्य व्यवहार के अध्ययन की बढ़ती के साथ-साथ मनोविज्ञान में अंत:प्रेक्षण के स्थान पर बाह्य प्रेक्षण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इस प्रवृत्ति से बीसवीं सदी के मनोविज्ञान का जन्म हुआ है। बीसवीं सदी के इस मनोविज्ञान का शिक्षा-मनोविज्ञान से इतना गहरा संबंध है कि इस सदी की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का अलग अध्याय में वर्णन करना ही उपयुक्त है।

तृतीय अध्याय

बीसवीं सदी के
शिक्षा से संबद्ध मनोवैज्ञानिक संप्रदाय

हमने अभी देखा कि १९वीं शताब्दी के अंत में मनोविज्ञान के क्षेत्र में क्या-क्या लहरें उठ खड़ी हुई थीं। १८९० तथा १९०० के बीच में कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक उत्पन्न हो गए थे जिन्होंने मनोविज्ञान के लिये बिल्कुल नए-नए क्षेत्र खोल दिए थे। उन्होंने 'बाल-मनोविज्ञान' (Child Psychology), 'पशु-मनोविज्ञान' (Animal Psychology), 'अस्वस्थ मनोविज्ञान' (Abnormal Psychology) की स्थापना शुरू कर दी थी। इस समय मनोविज्ञान दर्शन की कोख में से निकलकर स्वतंत्र विज्ञान बन चुका था। यद्यपि अभी मनोविज्ञान के पंडित 'चेतना' के विज्ञान को मनोविज्ञान कहते थे, तथापि वे भी 'व्यवहार' (Behavior) के विषय में अधिक चर्चा करने लगे थे। 'मस्तिष्क' तथा 'तंतु-संस्थान' के द्वारा चेतना को समझने के प्रयत्न को भी वे अब अनावश्यक समझने लगे थे। उनका कहना था कि हमें इससे कुछ प्रयोजन नहीं कि आत्मा है या नहीं, मन है या नहीं, चेतना किस प्रकार काम करती है, मस्तिष्क की रचना क्या है। हम प्राणी को संसार में व्यवहार करते हुए देखते हैं,

किन्हीं परिस्थितियों में वह एक तरह से व्यवहार करता है, किन्हीं परिस्थितियों में दूसरी तरह से। मनोविज्ञान का काम पशु के, बालक के, मनुष्य के इन्हीं व्यवहारों तथा व्यवहार-विषयक नियमों का अध्ययन करना है। व्यवहार एक स्थूल चीज़ है, प्रत्यक्ष वस्तु है, उस पर अधिक आसानी और अधिक निश्चय से विचार किया जा सकता है।

असल में, बीसवीं सदी के मनोविज्ञान में इतनी जीवनी-शक्ति थी कि इसमें भिन्न-भिन्न दृष्टियों से कई संप्रदाय (Schools) उठ खड़े हुए। वे प्रायः सभी अब तक के प्रचलित मनोविज्ञान के किसी-न-किसी सिद्धांत के विरोध में थे। इन संप्रदायों का 'शिक्षा-मनोविज्ञान' से बहुत घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि प्रायः सभी बालक के मन का अध्ययन करते हैं। इनमें से मुख्य ये हैं :—

१. सत्तावाद (Existentialism)

१. व्यवहारवाद (Behaviorism)

३. मनोविश्लेषणवाद (Psycho-Analysis)

४. प्रयोजनवाद (Purposivism)

५. अवयवीवाद या जेस्टाल्टवाद (Gestalt School)

अब हम 'शिक्षा-मनोविज्ञान' को दृष्टि में रखते हुए इन पाँचो संप्रदायों का क्रमशः वर्णन करेंगे।

१. सत्तावादी संप्रदाय

हम देख चुके हैं कि १६वीं सदी का मनोविज्ञान 'प्रत्यय-संबंध-वाद' (Association of Ideas) का रूप धारण

किए हुए था। 'प्रत्यय-संबंध-वादी' अंत:प्रेक्षण से काम लेते थे। वे कहते थे कि अपने भीतर मानसिक अवस्थाओं (Mental states) का निरीक्षण करने से ऐसा ज्ञात होता है कि हम विचार करते हुए 'प्रत्ययों' (Ideas) की प्रतिमाओं (Images) का निर्माण कर लेते हैं। अगर हम हॉकी खेलने के विचार को मन में लाते हैं, तो हमारे मन में हॉकी की लकड़ी की शक्ल आ जाती है, देखे हुए किसी साम्मुख्य की स्मृति के रूप में खेलने का भाव मन में आ जाता है, और इन दोनो 'प्रत्ययों' की 'प्रतिमाओं' का परस्पर संबंध जुड़ जाता है। 'प्रत्यय' के परस्पर जुड़ जाने का मतलब है, 'प्रत्ययों' की 'प्रतिमाओं' का परस्पर जुड़ जाना। मनुष्य अंत:-प्रेक्षण के साधन द्वारा इन्हीं प्रतिमाओं का निरीक्षण करता है। दूसरे शब्दों में, इन्हीं मानसिक प्रतिमाओं के जोड़-तोड़ से मनुष्य का सारा विचार चलता है। इस संबंध में पैरिस के बिनेट (१८५७–१९११) महोदय ने अपने विचार प्रकट किए। बिनेट की दो लड़कियाँ थीं। वह उनसे प्रश्न करता था और पूछता था कि इस विषय में विचार करते हुए तुम्हारे मन में कोई शक्ल, कोई प्रतिमा (Image) आती है या नहीं। अनेक बार उनका विचार 'प्रतिमा-सहित' होता था, अनेक बार 'प्रतिमा-रहित'। इसी संबंध में जर्मनी के कुल्पे (१८६२–१९१५) तथा उसके अन्य कुछ साथियों ने परीक्षण किये। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि 'विचार' (Thinking) के लिये मानसिक प्रतिमा का होना

आवश्यक नहीं। कुल्पे, वुन्डट का शिष्य था और उसके परीक्षण गत महायुद्ध के समय तक होते रहे।

अगर 'विचार' के लिये 'प्रतिमा' का होना आवश्यक नहीं है, तो इसका यह परिणाम निकला कि 'प्रतिमा' के मन में आए बिना भी मानसिक विचार हो सकता है। जब 'प्रतिमा' मन में न हो, और मन विचार कर रहा हो, तब तो इसका यह मतलब हुआ कि 'प्रतिमा-रहित विचार' (Imageless thought) हो सकता है। अंत:प्रेक्षण में मानसिक प्रतिमाओं का ही तो जोड़-तोड़ होता है; जब मानसिक प्रतिमाओं के बिना भी विचार हो सकता है तब अंत:प्रेक्षण किसका? मानसिक प्रतिमाएँ चली गईं, तो अन्त:प्रेक्षण स्वयं चला गया। इसके अतिरिक्त, प्रतिमा-रहित विचार हो सकता है, इस बात को मान लेने का यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि 'प्रत्यय-संबंध-वाद' अशुद्ध सिद्धांत है। जब विचार की प्रक्रिया (Thought process) में मानसिक प्रतिमाएँ ही नहीं, तब वह 'वाद' कहाँ टिकेगा जिसमें उन प्रतिमाओं के संबंध (Association) से ही विचार की उत्पत्ति मानी गई है। इस प्रकार 'प्रतिमा-रहित-चिंतन' (Imageless thought) के बिनेट तथा कुल्पे के विचार ने १९वीं सदी के 'प्रत्यय-संबंध-वाद' तथा 'अंत:-प्रेक्षण' पर आक्रमण किया।

इस आक्रमण का मुक़ाबिला टिचनर (१८६७–१९२७) ने किया। उसने प्राचीन 'प्रत्यय-संबंध-वाद' के सिद्धांत को बीसवीं

सदी का नया रूप दे दिया। उसने अपने परीक्षणों के आधार पर कहा कि हमारा चिंतन प्रतिमा-सहित ही होता है, प्रतिमा-रहित नहीं। क्योंकि हम प्रतिमा-सहित ही चिन्तन कर सकते हैं, इसलिये उन प्रतिमाओं का मन की परीक्षण-शाला में जोड़-तोड़ होता रहता है, और उनका अनुभव अंत:प्रेक्षण के साधन से ही हो सकता है। टिचनर का यह सिद्धांत १८वीं शताब्दी के 'प्रत्यय-संबंध-वाद' को उड़ानेवाले प्रयत्नों के विरोध में था और इसकी स्थापना का समय १६१० सन् कहा जाता है।

टिचनर के संप्रदाय को 'सत्तावादी' संप्रदाय कहा जाता है। यह इसलिये क्योंकि उसका कथन था कि मनोविज्ञान का काम उपयोगिता को दृष्टि में रखकर चलना नहीं है; जिस प्रकार भौतिकी, रसायन आदि विज्ञान अपने-अपने क्षेत्र की 'सत्ताओं' को लेकर उन पर विचार करते हैं, इसी प्रकार मनोविज्ञान भी मानसिक अनुभवों को, सत्ताओं (Existences) को लेकर उन पर विचार करता है। विज्ञान के नियमों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन हो रहा है, और इस प्रकार के अध्ययन के साथ-साथ कई ऐसी बातें स्वयं निकल आती हैं जो मानव-समाज के लिये उपयोगी हैं। इसी प्रकार मनोविज्ञान का भी शुद्ध विज्ञान (Pure Science) के तौर पर अध्ययन होना चाहिए, उपयोगिता के उद्देश्य से नहीं। इस संप्रदाय का 'शिक्षा-मनोविज्ञान' से अधिक संबंध नहीं है, तो भी 'प्रतिमा-रहित-चिंतन' हो सकता है या नहीं, यह बात शिक्षा की दृष्टि से कम महत्त्व की भी नहीं कही

जा सकती। 'प्रतिमा-रहित-चिंतन' पर सत्तावादियों के अपने विचार हैं, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है।

२. व्यवहारवादी संप्रदाय

वैसे तो अंत:प्रेक्षण के तरीक़े पर देर से आक्षेप होते आए हैं, परंतु १९वीं शताब्दी में ये आक्षेप बहुत बढ़ गए। संक्षेप में कहा जाय, तो वे आक्षेप निम्न थे :—

(क). अंत:प्रेक्षण पर फ्रेंच विद्वान् कांट ने यह आक्षेप किया है कि अंत:प्रेक्षण के समय मनुष्य 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' दोनो बनने का प्रयत्न करता है। यह असंभव नहीं है। कल्पना कीजिए कि हमें क्रोध आया। हम अंत:प्रेक्षण से देखना चाहते हैं कि क्रोध के समय मानसिक प्रक्रिया क्या-क्या होती है। अगर क्रोध के समय हम उस समय उत्पन्न होनेवाली मानसिक प्रक्रिया का चिंतन कर रहे हैं, तो क्रोध नहीं रह सकता; अगर क्रोध है, तो इस प्रकार का चिंतन नहीं हो सकता। कांट के इस आक्षेप को दबे हुए शब्दों में मानते हुए मिल ने कहा है कि अगर अंत:-प्रेक्षण हो ही नहीं सकता, तो कम-से-कम मानसिक प्रक्रिया की स्मृति तो हो सकती है। जेम्स ने तो यहाँ तक कह डाला है कि संपूर्ण अंत:प्रेक्षण 'अनुप्रेक्षण' (Retrospection) ही है।

(ख). अंत:प्रेक्षण पर दूसरा आक्षेप यह है कि पशु, बालक तथा पागल अन्त:प्रेक्षण नहीं कर सकते, हालाँ कि इनकी मानसिक प्रक्रिया का जानना शिक्षा आदि की दृष्टि से बड़ा आवश्यक है। हम अपने विचार की प्रक्रिया के आधार पर

कल्पना करते हैं कि पशु तथा बच्चे भी शायद इसी प्रकार सोचते होंगे। परंतु यह आवश्यक नहीं कि जिस प्रकार हम सोचते हैं, इसी प्रकार पशु, बालक तथा पागल भी सोचते हों। अंत:प्रेक्षण के आधार पर युवकों की मानसिक प्रक्रिया का अध्ययन किया जा सकता है, दूसरों का नहीं।

(ग). युवकों का अंत:प्रेक्षण भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। उनके विचारों पर उनकी शिक्षा आदि का इतना प्रभाव पड़ चुका होता है कि उनका अंत:प्रेक्षण उनके अपने विचारों के रंग में रँगा होता है।

इस प्रकार, एक तरफ़ तो 'अंत:प्रेक्षण' पर आक्षेप हो रहे थे, दूसरी तरफ़ 'चेतना' पर भी आक्षेप होने लगे। अंत:-प्रेक्षण का विषय तो चेतना ही थी। 'चेतना' के विषय में कहा जाने लगा कि यह अस्पष्ट-सी चीज़ है, इसका अध्ययन करने के बजाय हमें चेतना का जो परिणाम होता है, उसका अध्ययन करना चाहिए। चेतना के अध्ययन का मतलब था, चेतना के एक-एक टुकड़े का अध्ययन। जिस प्रकार रसायन-शास्त्र में भौतिक पदार्थों के भिन्न-भिन्न तत्त्वों (Elements) का अध्ययन करते हैं, और समझा जाता है कि उन भिन्न-भिन्न तत्त्वों के मिलने से पदार्थों की रचना होती है, इसी प्रकार चेतना के विषय में समझा जाता था कि उसमें भिन्न-भिन्न मानसिक तत्त्वों, प्रत्ययों का जोड़-तोड़ होता रहता है। मनोविज्ञान का काम चेतना के इन्हीं तत्त्वों का अध्ययन करना है। इस प्रकार के मनोविज्ञान को 'चेतना-रचना-

वाद' (Structural Psychology) का नाम दिया जाता था। १९वीं शताब्दी के अंत में तथा २०वीं शताब्दी के शुरू में यह विचार ज़ोर पकड़ने लगा कि चेतना की रचना (Structure) के विषय में यह विचार करना कि चेतना इन-इन तत्त्वों से मिलकर बनी है, निरर्थक है ; हमें यह सोचना चाहिए कि चेतना अपना कार्य किस प्रकार करती है। हमें किसी घटना को देखकर क्रोध आता है। इस पर यह विचार करने के बजाय कि क्रोध पहले चेतना में उत्पन्न हुआ, फिर व्यवहार में प्रकट हुआ, हमें यह विचार करना चाहिए कि क्रोध के आने पर, हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर, हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा ; चेतना का वर्णन करने के बजाय हमें क्रोध का हम पर जो प्रभाव पड़ा, उसका वर्णन करना चाहिए। इस विचार को उठानेवालों का कहना था कि जिस प्रकार विकास के क्रम में से गुज़रते हुए हमारी उँगलियाँ बन गई हैं, हाथ-पैर एक ख़ास तरह के हो गए हैं, पहले इस प्रकार के नहीं थे, इसी प्रकार विकास में से गुज़रते हुए, एक ख़ास हालत में आकर, चेतना का भी विकास हुआ है। यह विकास किसी प्रयोजन से हुआ है, किसी उद्देश्य से हुआ है—ठीक इसी तरह जिस प्रकार हमारे हाथ-पैर का विकास किसी प्रयोजन से हुआ है। अर्थात्, जीवन-शास्त्र (Biology) की दृष्टि से चेतना का एक ख़ास प्रयोजन है, और वह है जीवन की रक्षा के लिये कार्य (Function) करना। मनोविज्ञान का काम चेतना की 'रचना' (Structure of

Consciousness) का अध्ययन नहीं, चेतना के 'कार्य' (Function of Conciousness) का अध्ययन है। जिस प्रकार हाथ-पैर से हम जीवनोपयोगी काम लेते हैं, इसी प्रकार चेतना से भी लेते हैं। उन्हीं कार्यों (Functions) का हमें अध्ययन करना चाहिए। मनोविज्ञान के इस दृष्टि-कोण को 'चेतना-कार्य-वाद' (Functional Psychology) का नाम दिया जाता है। विलियम जेम्स (१८४२–१९१०) ने इस विचार को मुख्यता दी।

हमने देखा कि १९वीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के शुरू में 'अंतःप्रेक्षण' तथा 'चेतना के अध्ययन' के विरुद्ध आवाजें उठीं। इन्हीं के परिणाम-स्वरूप, व्यवहारवादी संप्रदाय की स्थापना हुई। इस वाद के प्रवर्तक अमेरिका के वाटसन (१८७८) महोदय हैं। वाटसन ने कहा कि 'चेतना-रचना-वाद' (Structural Psychology) तथा 'चेतना-कार्य-वाद' (Functional Psychology) में कोई अधिक भेद नहीं है। दोनो 'चेतना' की रट लगाते हैं। 'चेतना' अस्पष्ट चीज है, उसका अध्ययन कैसा ? जेम्स के 'चेतना-कार्य-वाद' पर वाटसन का कथन है कि यह तो ठीक है कि मनोविज्ञान का काम मनुष्य के 'कार्यों' का निरीक्षण है, उनका अध्ययन है, परंतु इसके साथ 'चेतना' को क्यों जोड़ा जाय ? हम देखते हैं, एक आदमी गुस्से में आकर हाथ-पैर पटकने लगता है। 'चेतना-रचना-वादी' कहता था कि चेतना में गुस्सा आया, हम उस गुस्से का अंतःप्रेक्षण

द्वारा अध्ययन करेंगे; 'चेतना-कार्य-वादी' कहता था कि उस गुस्से से शरीर पर, उसके भिन्न-भिन्न अंगों पर जो प्रभाव पड़ा, हम उसका अध्ययन करेंगे; वाटसन का कथन है कि हमें 'चेतना' से कोई सरोकार नहीं, हम तो गुस्से की परिस्थिति में शरीर जो कार्य करने लगता है, जो चेष्टा तथा व्यवहार करता है, उसी का अध्ययन करेंगे, क्योंकि वही प्रत्यक्ष वस्तु है। वाटसन के इस व्यवहार-वादी संप्रदाय की स्थापना १९१२-१४ में हुई समझी जाती है।

व्यवहार-वाद (Behaviorism) का प्रारंभ 'पशु-मनोविज्ञान' (Animal Psychology) से हुआ। पशु-मनोविज्ञान के पंडित थॉर्नडाइक (१८७४) ने पशुओं पर कई परीक्षण किए। उसने अपने परीक्षणों के आधार पर बतलाया कि अगर मुर्ग़ी के बच्चे को पैदा होते ही थोड़ी-सी ऊँचाई पर बैठा दिया जाय, तो वह एकदम नीचे कूद पड़ेगा; कुछ अधिक ऊँचाई पर बैठाया जाय, तो घबराता हुआ कूदेगा; बहुत ऊँचे पर बैठाया जाय, तो नहीं कूदेगा। इसका यह अभिप्राय हुआ कि मुर्ग़ी का बच्चा बिना सीखे भी दूरी को देखकर ऐसा व्यवहार करता है जैसा उसे करना चाहिए। थॉर्नडाइक ने मुर्ग़ी के बच्चे पर एक अन्य परीक्षण किया। पैदा होते ही उसे दूसरे बच्चों से अलहदा करके एक गोल पिंजड़े में बंद कर दिया, जिसमें एक छेद था। बच्चा पिंजड़े के अंदर गोलाई में चक्कर काटने लगा। कई चक्कर काटने के बाद वह उस छेद में से निकलकर अन्य बच्चों में आकर

शामिल हो गया। उसे फिर पिंजड़े में बंद कर दिया गया। फिर वह कई चक्कर काटने के बाद बाहर निकला। बार-बार ऐसा करने पर वह झट-से निकलने लगा, अब उसे कई चक्कर काटने न पड़े। एक भूखे मुर्ग़ी के बच्चे को उसने एक पिंजड़े में बंद करके एक और परीक्षण किया। पिंजड़े के बाहर बच्चे के लिये भोजन रख दिया। बच्चा भीतर से चोंच मार-मारकर भोजन की तरफ़ जाने की कोशिश करता रहा। कई बार के प्रयत्न के बाद दरवाज़ा खुल गया। यह परीक्षण भी अनेक बार दोहराया गया। अंत में वह बच्चा पहले ही झटके में दरवाज़ा खोलने लगा।

थॉर्नडाइक के इन परीक्षणों से 'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर बहुत प्रकाश पड़ा। उसे यह सूझा कि किसी बात को सीखने के विषय में पशुओं पर किए गए परीक्षणों से बड़ी सहायता मिल सकती है। पशु कैसे सीखता है ? वह प्रयत्न करता है, असफल होता है, फिर करता है, फिर असफल होता है—अंत में, अनेक असफलताओं के बाद वह उसे सीख जाता है। अर्थात्, पशु दूसरे को देखकर नहीं सीखता, ख़ुद सोच-विचारकर भी नहीं सीखता, परंतु स्वयं करके किसी बात को सीखता है। वह किसी परिस्थिति में अपने को पाकर, भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है, कठिनाई को पार करने की कोशिश करता है। बार-बार कोशिश करने पर उसके अकृत्कार्य उद्योग निकल जाते हैं, कृत्कार्य रह जाते हैं, और हम कहते हैं कि वह अमुक बात सीख गया। इस तरीक़े को 'प्रयत्न करके, असफल होकर, फिर सीखने का तरीक़ा'

(Trial and Error Method) कहा जाता है। थॉर्नडाइक ने कहा कि केवल पशु ही इस तरीक़े से नहीं सीखता, मनुष्य भी इसी तरीक़े से सीखता है। सीखने (Learning) के इस नियम के दो विभाग किए जा सकते हैं :—

१. अभ्यास का नियम (Law of Exercise)

२. परिणाम का नियम (Law of Effect)

'अभ्यास' द्वारा, अर्थात् किसी काम को बार-बार करने से, मस्तिष्क में उस काम को करने की शक्ति बढ़ जाती है, और किसी काम को न करने से उसके करने की शक्ति घट जाती है। परंतु सीखने (Learning) में केवल अभ्यास का नियम पर्याप्त नहीं है। जब हम किसी काम को सीख रहे होते हैं, उस समय ग़ल्ती तो बार-बार होती है, परंतु बार-बार होने पर भी वह सीखने की जगह भुला दी जाती है। क्यों? क्योंकि सीखने में दूसरा नियम 'परिणाम' का नियम है। जिस काम के करने में हमें सुख, संतोष होता है, वह काम हम बार-बार न करने पर भी सीख जाते हैं; जिस काम के करने में हमें दुःख, असंतोष होता है, उसे बार-बार करने पर भी भूल जाते हैं। क़र्ज़ा लेकर प्रायः सब भूल जाते हैं, परंतु वही लोग क़र्ज़ा देकर नहीं भूलते। लेकर देना पड़ेगा, तो दुःख होगा। उस अवस्था को मन अपने सामने नहीं लाना चाहता, इसलिये लौटाने की बात को वह भुला ही देता है।

थॉर्नडाइक के ये विचार वाटसन को अनुकूल पड़ते थे। इनके

आधार पर 'चेतना' का नाम लिए बिना भी पशु तथा बालक के व्यवहार को समझने का प्रयत्न किया गया था। परंतु 'परिणाम के नियम' में वाटसन को अड़चन दीखती थी। 'परिणाम' का मतलब है, 'चेतना' पर परिणाम। अगर हमारे किसी काम से 'चेतना' को संतोष होता है, तो वह शीघ्र सीखा जाता है; अगर 'चेतना' को संतोष नहीं होता, तो वह नहीं सीखा जाता। इस समस्या का हल करने के लिये वाटसन ने कहा कि 'सीखने' (Learning) में 'परिणाम का नियम' कोई अलग नियम नहीं है। असली नियम 'अभ्यास' का ही नियम है। देर तक वाटसन का यही मत रहा कि पुनरावृत्ति (Frequency), नवीनता (Recency) तथा प्रबलता (Vividness) के कारण मनुष्य किसी बात को सीखता या भूलता है, उसके संतोष-जनक अथवा असंतोष-जनक परिणाम के कारण नहीं। वाटसन ने कहा कि जब कोई प्राणी किसी काम को करता है, तो अनेक असफल प्रयत्नों से पहले उसे वह काम कई बार करना होता है, अतः अनेक बार करने के कारण ही वह उस कार्य को आसानी से करना सीख जाता है। इसका उत्तर थॉर्नडाइक ने यह दिया कि अगर यही बात है, तो जिन प्रयत्नों में वह असफल रहा है, उनकी संख्या सफल प्रयत्नों से ज्यादा रहने पर भी वह किसी काम को क्यों सीख जाता है ? इस समस्या का उत्तर वाटसन को रशिया के शरीर-रचना-शास्त्रज्ञ पवलव के परीक्षणों में दिखाई दिया और उसने पवलव के कथन को अपना लिया।

पवलव (१८४६) का जन्म रूस में हुआ था। उसने १६०५ में यह सिद्धांत निकाला कि हमारा बहुत-सा ज्ञान 'संबद्ध सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) के द्वारा होता है। 'संबद्ध सहज-क्रिया' का क्या अभिप्राय है ? इसे समझने के लिये पवलव के परीक्षणों को समझना आवश्यक है। पवलव एक कुत्ते पर परीक्षण करता था। वह कुत्ते की मुख की ग्रंथी से उसका लाला-रस (Saliva) निकालता था। इसके लिये वह उसके सामने भोजन रखता था। भोजन को देखते ही कुत्ते के मुख से लाला-रस टपकने लगता था। पीछे से, भोजन लाने से पूर्व, भोजन के लिये चहल-पहल को देखकर उसका मुँह लार टपकाने लगता था, भोजन की तश्तरी देखकर उसका मुँह भीग जाता था। यहाँ तक कि भोजन लानेवाले के क़दमों की आहट सुनकर भी उसका मुँह गीला हो जाता था। पवलव ने सोचा कि भोजन देखकर लार टपक आना तो स्वाभाविक है, परंतु भोजन को बिना देखे, भोजन लानेवाले के क़दमों की आहट सुनकर लार क्यों टपकती है ? इससे उसने परिणाम निकाला कि यद्यपि पहले तो भोजन देखकर मुँह से लार टपकती है, तो भी पीछे चलकर भोजन लाने के साथ अन्य जो बातें 'संबद्ध' हैं, उन्हें देखकर भी लार टपकने लगती है। भोजन देखकर लार टपक आना सहज-क्रिया (Reflex action) है ; तश्तरी देखकर लार टपकना सहज-क्रिया नहीं है, यह 'संबद्ध सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) है। पहली बात स्वाभाविक है,

सीखी नहीं जाती ; दूसरी बात स्वाभाविक नहीं है, परंतु आप-से-आप सीखी जाती है। शिक्षा की दृष्टि से यह सिद्धांत बड़े महत्त्व का था। पवलव ने कहा कि हम जो कुछ भी सीखते हैं वह सब 'संबद्ध सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) का परिणाम है। बच्चा गाय का ज्ञान प्राप्त करता है। कैसे ? बच्चे में अनुकरण करने की प्राकृतिक शक्ति (Instinct) है। जब हम 'गाय' बोलते हैं, हमारी आवाज़ सुनकर, वह भी 'गाय' बोलता है। यह अनुकरण उसकी सहज-क्रिया है। परंतु अगर जब-जब गाय सामने हो, तब-तब ही हम 'गाय' बोलें, दूसरे समय नहीं, तो क्या होगा ? बच्चे का 'गाय' बोलने का संबंध हमारे अनुकरण करने से न रहकर गाय से जुड़ जायगा। अब वह हमारे बोलने पर 'गाय' नहीं बोलेगा, परंतु गाय के सामने आने पर 'गाय'-शब्द का उच्चारण करेगा। अर्थात् 'गाय'-शब्द एक विशेष जानवर के साथ 'संबद्ध' हो जायगा।

पवलव के 'संबद्ध सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) के सिद्धांत से वाटसन के 'व्यवहारवाद' को बहुत सहारा मिला। थॉर्नडाइक किसी नई बात को सीखने (Learning) में 'परिणाम का नियम' आवश्यक बतलाता था, परंतु उसमें वाटसन को 'चेतना' की बू आती थी। हाँ, 'संबद्ध सहज-क्रिया' मानने में 'चेतना'-शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ता था। वाटसन व्यवहार-वादियों में सब से ज्यादा कट्टर है। वैसे तो सभी व्यवहार-वादी 'चेतना' के शब्दों में बात करना पसंद नहीं करते।

'देखना', 'सुनना' आदि शब्दों में उन्हें 'चेतना' मानने की बू आती है। 'देखना', अर्थात् कोई ऐसी 'चेतना' जो देखती है; 'सुनना', अर्थात् कोई ऐसी 'चेतना' जो सुनती है। इन शब्दों की जगह वे 'देखने' के लिये कहते हैं, 'विषय' (Stimulus) के सम्मुख आने पर आँख की 'प्रतिक्रिया' (Response); 'सुनने' के लिये कहते हैं, शब्द के होने पर कान की प्रतिक्रिया। इस प्रकार 'विषय-प्रतिक्रिया' (Stimulus-Response) के शब्दों में अपने भावों को प्रकट करना ये लोग पसंद करते हैं। इस दृष्टि से 'व्यवहारवाद' को 'विषय-प्रतिक्रिया-वाद' (Stimulus-Response Theory) भी कहा जाता है।

वाटसन का कहना है कि 'विषय' तथा 'प्रतिक्रिया' की सहायता से, परिस्थिति को अनुकूल बनाकर, हम बालक को जो चाहें बना सकते हैं। एक ही बालक को उत्तम-से-उत्तम चिकित्सक अथवा उत्तम-से-उत्तम वकील बनाना हमारे ही हाथ में है। व्यक्ति वंशानुसंक्रम (Heredity) से कुछ नहीं लाता, प्राकृतिक शक्तियाँ (Instincts) कुछ नहीं हैं, परिस्थिति (Environment) ही सब कुछ है। परिस्थिति में 'संबद्ध सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) का नियम ही शिक्षा का आधार है। शिक्षा की दृष्टि से यह विषय इतने महत्त्व का है कि इस पर हम 'वंशानुसंक्रम तथा परिस्थिति'-शीर्षक पृथक् अध्याय में विचार करेंगे।

३. मनोविश्लेषणवादी संप्रदाय

व्यवहार-वादियों का कहना था कि 'चेतना' का अध्ययन मनो-

विज्ञान नहीं है। चेतना अंदर की चीज़ है, मनोविज्ञान का काम व्यवहार का, बाहर का अध्ययन है। मनोविश्लेषणवादियों ने कहा कि व्यवहार का अध्ययन ही हमें बतलाता है कि 'ज्ञात-चेतना' (Conscious self) से गहरी एक दूसरी 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious self) है। वह ऐसी चेतना है जिसके सामने हमारी 'ज्ञात-चेतना' मानो गहरे पानी के ऊपर की सतह है। उस चेतना का हमें ज्ञान नहीं होता, हमें उसका कुछ पता भी नहीं लगता, इसीलिये उसे 'अज्ञात-चेतना' कहा जाता है। 'अज्ञात-चेतना' का अध्ययन एक गहरी चेतना का अध्ययन है, और इस दृष्टि से, 'मनोविश्लेषण-वाद' को कभी-कभी 'अंतश्चेतना मनोविज्ञान' (Depth Psychology) भी कहते हैं। चेतना तो चेतना है ही, परंतु 'ज्ञात-चेतना' के भीतर, गहराई में, एक और चेतना है जो हमारे ज्ञान में नहीं आती, छिपी हुई है, और उसका अध्ययन करना मनोविश्लेषण-वाद का काम है।

इस संप्रदाय के प्रवर्तक हैं, वायना के महाशय फ्रॉयड (१८५६)। इन्होंने चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया था, और इन्हें मृगी आदि के इलाज का ख़ास शौक़ था। इन्होंने पहले मोहनिद्रा (Hypnotism) के द्वारा बीमारों का इलाज शुरू किया। मोहनिद्रा—हिप्नोटिज़्म—में क्या होता है? बीमार की 'ज्ञात चेतना' तो सुप्त हो जाती है, परंतु 'अज्ञात-चेतना' अपने को प्रकट करने लगती है।

जो बातें जाग्रत-अवस्था में रोगी के मुख से नहीं निकलतीं, जिनमें से कई का रोगी को जाग्रत-अवस्था में ध्यान भी नहीं होता, वे मोहनिद्रा कर देने पर रोगी आप-से-आप बोलने लगता है। पेरिस के जेनेट (१८५६) महोदय ने इस प्रकार के कई परीक्षण किए। जेनेट का कथन था कि उसने हिस्टीरिया के कई रोगियों को मोहनिद्रा के द्वारा सुलाकर पुरानी स्मृतियों को ताज़ा करने को कहा, तो उन्हें जीवन की कई ऐसी घटनाएँ याद हो आईं जिनसे समझ पड़ गया कि उनके मन की विक्षिप्त अवस्था क्यों थी। उन्हें जीवन में कहीं-न-कहीं कोई 'मानसिक उद्वेग का धक्का' (Emotional shock) लगा था, उसकी उन्हें याद नहीं रही थी, उसका ज्ञान उनकी 'ज्ञात-चेतना' में नहीं था, परंतु अंदर-ही-अंदर वह उनके संपूर्ण जीवन को, सम्पूर्ण व्यवहार को प्रभावित कर रहा था। जेनेट ने परीक्षणों से यह भी पता लगाया कि अगर रोगी को मोहनिद्रा की अवस्था में यह कह दिया जाय कि जो होना था सो हो गया, अब इसे भूल जाओ, तो रोगी बिल्कुल ठीक हो जाता था।

हिप्नोटिज्म के उक्त तरीक़े से 'ज्ञात-चेतना' के पीछे छिपी हुई 'अज्ञात-चेतना' प्रकट हो जाती है, वह उस अवस्था में, जैसे तेल पानी पर तैरने लगता है, इस प्रकार मानो 'ज्ञात-चेतना' के ऊपर तैरने-सी लगती है। 'अज्ञात-चेतना' के अध्ययन के द्वारा रोगी के रोग का कारण जाना जा सकता है, और उसे अपने विचारों द्वारा प्रभावित करके रोग को दूर भी किया जा सकता

है। फ़्रॉयड इसी काम में लगा हुआ था, इसलिये उसे 'हिप्नोटिज़्म' एक बहुत अच्छा साधन प्रतीत हुआ। परंतु थोड़े ही दिनों में उसे यह अनुभव होने लगा कि प्रत्येक रोगी पर मोहनिद्रा का प्रभाव नहीं पड़ सकता। कई बीमार ऐसे मिलते हैं जो किसी के बस में नहीं आते। ऐसों की 'अज्ञात-चेतना' की गहराई में भरे हुए विचारों को ऊपर की सतह पर लाने का क्या तरीक़ा किया जाय?

इस संबंध में फ़्रॉयड चिंतित ही था कि उसे अपने मित्र ब्रुअर (१८४२–१९२५) से बड़ी सहायता मिली। ब्रुअर को उसके एक स्त्री-रोगी ने कहा था कि मोहनिद्रा की नींद में अगर उसे जो कुछ वह कहना चाहे कहने दिया जाय, तो उसका दिल मानो हल्का हो जाता था, और आगे से उसके मन की विक्षिप्त अवस्था नहीं रहती थी। इस नींद में उसकी अनेक पिछली भूली हुई स्मृतियाँ ताज़ी हो जाती थीं और जब वह चिकित्सक से उन सब की चर्चा कर देती थी, तो उस पर हिस्टीरिया का प्रकोप कम हो जाता था। इस परीक्षण के बार-बार दोहराने से वह स्त्री ठीक भी हो गई थी।

ब्रुअर ने कुछ देर तक तो फ़्रॉयड के साथ काम किया, परंतु पीछे उसने इस क्षेत्र को छोड़ दिया। अब फ़्रॉयड इकला ही परीक्षण करता था। उसने हिप्नोटिज़्म तो छोड़ दिया, परंतु रोगी जो कुछ भी कहना चाहता था, वह सब कुछ कह देने के तरीक़े को जारी रक्खा। वह रोगी को एक आराम-कुर्सी पर लिटा

देता था। उसपर मोह-निद्रा करने के बजाय वह उसे कहता था कि तुम्हें जो-जो भी तकलीफ़ें हों, उन्हें याद करो, और जो-जो मन में आता जाय, कहते जाओ। हाँ, अपनी तकलीफ़ों को छोड़कर और किसी बात को मन में मत आने दो। इस प्रकार रोगी को सोचने के लिये खुला छोड़ देने से उसकी 'अज्ञात-चेतना' ऊपर आने लगती थी। वह रोगी को कहता था, अगर तुम्हारे मन में कोई बात आती है, तुम सोचते हो वह बहुत तुच्छ है, छोटी है, कहने लायक़ नहीं, इसकी भी पर्वा न करो, कह डालो। फ़्रॉयड ने 'अज्ञात-चेतना' को प्रकट करने के लिये हिप्नोटिज्म की जगह इस उपाय का प्रयोग किया। इस उपाय को 'स्वतंत्र कथन' (Free association) का उपाय कहा जाता है। 'मोह-निद्रा' तथा 'स्वतंत्र कथन' के उपाय ऐसे हैं जिनसे 'अज्ञात-चेतना' का बंद कपाट खुल जाता है, और हम उस चेतना के भीतर झाँकने लगते हैं जो अबतक हमारे लिये एक बंद पुस्तक के समान थी।

'अज्ञात-चेतना' हमारे लिये बंद क्यों थी? 'ज्ञात-चेतना' के समान ही 'अज्ञात-चेतना' के विचार मन की ऊपरली सतह पर क्यों नहीं तैरते; नीचे, गहराई में, आँखों से परे क्यों पड़े रहते हैं? फ़्रॉयड इसका कारण बतलाता है। उसका कहना है कि मनुष्य में कई तरह के विचार हैं। कई विचार ऐसे हैं जिन्हें हमारा समाज बर्दाश्त कर लेता है, उन विचारों को रखने के लिये समाज का हम पर कोई बंधन नहीं है; कई विचार ऐसे

हैं, जिन्हें हमारा समाज पसंद नहीं करता। जिन विचारों को हमारा समाज पसंद करता है, वे हमारी 'ज्ञात-चेतना' में रहते ही हैं, परंतु जिन विचारों को हमारा समाज पसंद नहीं करता वे भी तो मन में उठते रहते हैं, उनका क्या होता है? फ्रॉयड का कथन है कि बस, वे ही विचार 'अज्ञात-चेतना' में जाकर एकत्रित हो जाते हैं, और 'ज्ञात-चेतना' के लिये मानो लुप्त हो जाते हैं। हम अपनी तरफ़ से तो मानो उन विचारों को मन से धकेलकर बाहर फेंक देते हैं, परंतु बाहर चले जाने के बजाय वे और अंदर चले जाते हैं, 'अज्ञात-चेतना' में जाकर बैठ जाते हैं। हम समझते हैं कि हमने उन्हें निकाल दिया, परंतु वे निकलने के बजाय और अधिक अंदर गड़ गए होते हैं। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति किसी की विवाहिता-स्त्री के प्रति खिंचाव अनुभव करता है। यह विचार ऐसा है जिसे समाज सहन नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति के हृदय में यह विचार उत्पन्न होगा वह डर से, शर्म से, इस विचार को दबाने का यत्न करेगा। फ्रॉयड का कहना है कि यह विचार, जब एक बार मन में आ गया, नष्ट नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति के हृदय में यह विचार उठेगा, उसके सामने दो रास्ते खुले हैं। या वह सामाजिक नियमों की अवहेलना करके अपनी इच्छा को पूर्ण करे; या उस इच्छा के उठते ही उसे दबाने का यत्न करे। अक्सर लोग दूसरे मार्ग का अवलंबन करते हैं। वे इस प्रकार की इच्छाओं को पूरा करने के बजाय दबाते हैं। जिन इच्छाओं

को इस प्रकार दबाया जाता है, वे कुछ देर के बाद भूल जाती हैं, और मनुष्य को यह याद भी नहीं रहता कि ऐसी कोई इच्छा उसमें थी, या न थी। इच्छाओं को इस प्रकार दबाने को फ्रॉयड 'प्रतिरोध' (Represssion) कहता है। इच्छाएँ इस प्रकार प्रतिरुद्ध (Repressed) होकर मर नहीं जातीं, वे 'ज्ञात-चेतना' को छोड़कर 'अज्ञात-चेतना' में चली जाती हैं। अगर वे 'ज्ञात-चेतना' में आने का यत्न करती हैं, तो हमारे भीतर की ही एक शक्ति उन्हें रोकती है, 'अज्ञात-चेतना' से 'ज्ञात-चेतना' में नहीं आने देती।

यह 'प्रतिरोध-शक्ति' क्या है ? हम जब जन्मते हैं, तो अपने को एक समाज में पाते हैं। इस समाज में अनेक नियम बने हुए हैं। दूसरे की वस्तु उठाना चोरी है, दूसरे की स्त्री को छेड़ना व्यभिचार है, असत्य बोलना पाप है। ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होने लगता है, त्यों-त्यों समाज के इन नियमों के आधार पर उसके भीतर ये विचार घर करने लगते हैं। होते-होते जब वह बड़ा हो जाता है, तो इन नियमों को स्वतःसिद्ध समझने लगता है। उसके भीतर एक ऐसा 'उच्च अंतःकरण' (Super-Ego) उत्पन्न हो जाता है जो उसे चोरी करने की इच्छा होने पर भी चोरी नहीं करने देता, दूसरे की स्त्री पर बुरी नजर डालने की इच्छा होने पर भी ऐसा करने से मना करता है, झिड़कता है। एक तरह से मानो यह अच्छे और बुरे की पहचान करनेवाला संतरी हो जाता है। बस, यह 'उच्च अंतःकरण' जो समाज के प्रचलित आदर्शों

का एक प्रतिबिंब है, 'ज्ञात' तथा 'अज्ञात' चेतना के बीच में बैठकर 'प्रतिरोधक' (Censor) का काम करता है।

मनुष्य का 'साधारण अंतःकरण' (Ego) इच्छाओं का घर होता है, वह हरएक इच्छा को, गंदी-से-गंदी इच्छा को पूरा करना चाहता है ; उसका 'उच्च अंतःकरण' (Super-Ego) 'ज्ञात' तथा 'अज्ञात' चेतना के बीच में बैठकर केवल उन्हीं इच्छाओं को बाहर निकलने देता है जो सामाजिक आदर्शों के प्रतिकूल नहीं हैं, दूसरी इच्छाओं को वह 'अज्ञात-चेतना' में धकेलकर उसके दरवाज़े पर ऐसे बैठ जाता है जैसे कोई पहरेदार बैठा हो।

परंतु जो इच्छाएँ इस प्रकार 'अज्ञात-चेतना' में धकेल दी जाती हैं, जिन्हें हमारा 'उच्च अंतःकरण', हमारा 'प्रतिरोधक' निकलने नहीं देता, क्या वे 'अज्ञात-चेतना' के भीतर दबी रह सकती हैं ?

फ्रॉयड का कथन है कि 'इच्छा' कभी नष्ट नहीं होती। 'इच्छा' में क्रियाशीलता अंतर्निहित रहती है। 'इच्छा' का यह स्वभाव है। 'इच्छा' अगर पूरी हो गई, तब तो ठीक ; अगर पूरी न हुई, तो वह अपनी क्रियाशक्ति को भिन्न-भिन्न तौर पर प्रकट करती है। आख़िर, 'इच्छा' इसीलिये तो पूरी नहीं हो रही, क्योंकि उसके बाहर निकलने के दरवाज़े पर 'प्रतिरोधक' (Censor) बैठा है। जब 'इच्छा' के क्रिया में परिणत न हो सकने का यही कारण है तब वह 'इच्छा' भी ऐसा मौक़ा ढूँढ़ती रहती है जब 'प्रतिरोधक' शिथिल हो जाय, और उसे बाहर

निकलने का अवसर मिल जाय। ऐसा अवसर उसे मिल भी जाता है। स्वप्न (Dreams) में ये ही अतृप्त दबी हुई इच्छाएँ सोते समय प्रकट होती हैं। स्वप्नों के अधार पर इन अतृप्त इच्छाओं के विषय में अच्छा प्रकाश पड़ता है। उस समय भी ये प्रतिरुद्ध इच्छाएँ स्पष्ट तौर पर अपने को नहीं प्रकट करतीं, मानो अपने नग्न-रूप में प्रकट होने से शर्माती हैं। स्वप्न में भिन्न-भिन्न प्रकार से, भिन्न-भिन्न शक्लों को धारण करके, ये इच्छाएँ प्रकट होती हैं। किस शक्ल के स्वप्न का क्या अर्थ होगा, उस शक्ल (Symbol) के पीछे क्या इच्छा काम कर रही होगी, इस पर फ़्रॉयड ने बहुत लंबा-चौड़ा विवेचन किया है। 'ज्ञात-चेतना' ने जिन अतृप्त इच्छाओं को भुला दिया था, 'अज्ञात-चेतना' उन्हें नहीं भुलाती, परंतु सीधे तौर पर सामने लाकर भी नहीं रखती। यह देखा गया है कि अगर किसी प्रकार 'अज्ञात-चेतना' में से इन इच्छाओं को हम ढूँढ निकालें, तो मानसिक रोगी, जो इस छिपी हुई इच्छा के कारण ही रोगी होता है, उस इच्छा के पता लग जाने पर ख़ुद-ब-ख़ुद ठीक हो जाता है। मनोविश्लेषण-वादी चिकित्सक रोगी को ऐसी अवस्था में ले आता है जब 'ज्ञात-चेतना' सो जाती है, प्रतिरोधक हट जाता है, और 'अज्ञात-चेतना' मानसिक जगत् की ऊपर की सतह पर तैरने लगती है। क्योंकि छिपी हुई इच्छाओं में बाहर निकलने की प्रवृत्ति ज़ोर से काम कर रही होती है, इसलिये रोगी को तनाव में से हटाते ही वे इच्छाएँ प्रकट होने लगती हैं। रोगी फिर से अपनी पुरानी हालत

में पहुँच जाता है, मानो पुराना जीवन फिर से दोहराने लगा हो। पुरानी अवस्था तथा वर्तमान अवस्था में इतना भेद रहता है कि पहले इसी मानसिक विषमता के उपस्थित होने पर वह विचलित हो गया था, कठिनाई में से रास्ता नहीं निकाल सका था, और इसी का परिणाम था कि उसकी मानसिक अवस्था बिगड़ गई थी ; अब यद्यपि फिर वह उसी विषम मानसिक अवस्था में आ गया है, तो भी उसका चिकित्सक उसे विचलित नहीं होने देता, ठीक रास्ते पर लगा देता है। जैसे कोई रास्ता खो गया हो, उसे ठीक रास्ते पर डालने के लिये वहीं लौटाना पड़ता है जहाँ से वह ग़लत रास्ते पर पड़ा था, इसी तरह मानसिक रोगी को उस अवस्था में पहुँचाया जाता है जहाँ किसी विषम समस्या के कारण उसके मन में कोई गाँठ पड़ गई थी। असावधानी की अवस्था में भी हमारी छिपी हुई इच्छाएँ निकल पड़ती हैं। उस समय इनके निकल पड़ने का यही कारण होता है कि मनुष्य असावधान होता है, अपनी 'प्रतिरोध-शक्ति' से काम नहीं ले रहा होता। क्रोध आदि मानसिक आवेगों के समय सालों की दिल के भीतर-भीतर छिपाई हुई बातें उछल-उछलकर निकलने लगती हैं। यह इसीलिये, क्योंकि क्रोध के समय 'प्रतिरोध-शक्ति' बिल्कुल भाग जाती है, 'अज्ञात-चेतना' 'ज्ञात-चेतना' को पीछे धकेलकर स्वयं ऊपर आने लगती है, उसके भीतर छिपी हुई बातें भी 'चेतना' के ऊपर की सतह पर आने का मौक़ा पाकर बड़े वेग से निकलने लगती हैं। बीमारी

की हालत में भी 'प्रतिरोधक शक्ति' कम हो जाती है। इसके कम होते ही 'अज्ञात-चेतना' से निकल भागने की कोशिश करनेवाली इच्छाएँ, फ़ौव्वारे में से पानी की तरह फूट पड़ती हैं। 'हिप्नोटिज्म' तथा 'स्वतंत्र-कथन' के उपाय से 'अज्ञात-चेतना' में छिपी हुई बातों को ही बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाता है।

हमने देख लिया कि मनुष्य की अतृप्त इच्छाएँ भिन्न-भिन्न उपायों से बाहर निकलने का प्रयत्न करती हैं। परंतु अगर हम उन्हें दबाते ही रहें, तो क्या परिणाम होगा? फ्रॉयड ने इस प्रश्न पर ख़ूब विचार किया है। वह कहता है कि जिन इच्छाओं को हम किसी कारण से तृप्त नहीं कर सकते—चाहे यह कारण हमारे 'उच्च अंतःकरण' की प्रतिरोध-शक्ति हो, चाहे सामाजिक नियमों के प्रतिकूल चलने का भय या लज्जा हो—वे इच्छाएँ 'ज्ञात-चेतना' में तो रह नहीं सकतीं; वे 'अज्ञात' में चली जाती हैं, और वहीं पलती रहती हैं। क्योंकि उन्हें तृप्त करने में कठिनाई होती है, इसलिये वे और भी प्रबल हो जाती हैं, यह उनका स्वभाव ही है। इस प्रकार की अतृप्त इच्छाओं की संख्या बढ़ती जाती है। 'अज्ञात-चेतना' में जाकर ये अतृप्त इच्छाएँ परस्पर मिल-जुल जाती हैं, उनकी अंदर-ही-अंदर एक गुत्थी-सी बन जाती है। फ्रॉयड इस गुत्थी को 'विषम जाल' (Complexes) का नाम देता है।

अतृप्त अथवा प्रतिरुद्ध इच्छाओं के ये 'विषम जाल' (Complexes) अत्यंत क्रियाशील होते हैं, यद्यपि हमें

उनकी सत्ता का भी ज्ञान नहीं होता। हमारा परिचय तो 'ज्ञात-चेतना' से होता है, ये 'विषम जाल' (Complexes) 'अज्ञात-चेतना' में पल रहे होते हैं। इन 'विषम जालों' के साथ तीव्र उद्वेग (Strong Emotion) जुड़ा होता है। अगर यह उद्वेग (Emotion) न हो, तो ये जीवित ही न रह सकें। इसी उद्वेग के कारण इनमें 'क्रियाशीलता' (Motivation) रहती है। अतृप्त इच्छाओं के इन 'विषम जालों' (Complexes) का मनुष्य के स्वभाव, उसकी आदत, उसके चाल-चलन, उसके व्यवहार पर भारी असर होता है। इन 'विषम जालों' का बालक की शिक्षा तथा उसके जीवन से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। कल्पना कीजिये कि आपका एक लड़का है। वह आपका पहला बालक है, इसलिये आप उसकी हरएक इच्छा पूर्ण करते हैं। कुछ देर बाद आपकी एक और संतान होती है। अब बड़े लड़के की तरफ़ उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना पहले दिया जाता था, उसकी हरएक इच्छा पूरी नहीं की जाती। कुछ दिन तक तो वह बड़ा तूफ़ान मचाता है, परंतु बाद को चुप हो रहता है। इसका यह मतलब नहीं कि उसकी इच्छा नष्ट हो गई। इसका यह मतलब है कि वह इच्छा आपके बर्ताव से एक प्रकार का मानसिक उद्वेग का धक्का (Emotional shock) खाकर 'ज्ञात-चेतना' में से 'अज्ञात-चेतना' में जा छिपी, और वहाँ वह अपना 'विषम जाल' (Complex), अपना ताना-बाना बुनने लगी। छोटे बच्चों के इस प्रकार के 'विषम जाल' कई कारणों से

उत्पन्न हो जाते हैं। किसी बालक की सौतेली माँ है, तो उसके व्यवहार से बालक की 'अज्ञात-चेतना' में कई प्रकार के 'विषम जाल' उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि सौतेली माँ के बर्ताव के कारण बालक को मानसिक उद्वेग के धक्के समय-समय पर पहुँचते रहते हैं, उसे अपनी इच्छाओं को दबाना पड़ता है; किसी का पिता बड़ा तेज़-तर्रार है, तो उसके अकारण गर्जन-तर्जन को देखकर बालक की 'अज्ञात-चेतना' 'विषम जालों' से भर जाती है। बालक डर के मारे कुछ कह नहीं सकता; उसके 'विषम जाल' (Complexes) बढ़ते ही जाते हैं। बचपन के इन्हीं 'विषम जालों' का परिणाम है कि कई बालक हठी हो जाते हैं, कई दुराग्रही, कई निराशावादी। अगर उनकी 'ज्ञात-चेतना' को बंद करके, 'अज्ञात-चेतना' में घुसकर देखा जाय, तो हठ, दुराग्रह तथा निराशावाद के आधार में ऐसी कहानियाँ मिल जायँगी जो बालक को उस प्रकार का बनाने में कारण हुई होंगी।

फ़्रॉयड 'अज्ञात-चेतना' के 'विषम जालों' का कारण ढूँढ़ता-ढूँढ़ता बचपन की तरफ़ जाता है। अधिकतर बचपन में ही ये 'विषम जाल' उत्पन्न होते हैं। बचपन में ही यह मत करो, वह मत करो, ऐसा मत करो, वैसा मत करो का व्यवहार होता है। उसी समय से जिन इच्छाओं को हम तृप्त करना चाहते हैं, उन्हें रोका जाता है, दबाया जाता है। इच्छाओं को इस प्रकार रोकने से, उन्हें दबाने से, बालक की 'अज्ञात-चेतना' में 'विषम जालों' की संख्या बढ़ती चली जाती है। बालक के प्रतिरुद्ध मानसिक उद्वेगों

के इस जीवन (Repressed Emotional Life) को समझना शिक्षा की दृष्टि से बड़ा आवश्यक है। मनुष्य के व्यवहार (Behavior) पर असली प्रभाव 'अज्ञात-चेतना' में छिपे हुए प्रतिरुद्ध मानसिक उद्वेगों का ही पड़ता है, और उन्हीं का पूरा होना या न होना बालक की शिक्षा की योग्यता, उसके सामर्थ्य, स्वभाव, आचार आदि का निर्धारण करता है। शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक के विकास में उक्त प्रकार के 'विषम जाल' न बनने दे, अगर वे बनेंगे, तो बालक के व्यवहार को पेचीदा बना देंगे। जिस प्रकार नदी के प्रवाह को रोकने से वह अपने दूसरे मार्ग बना लेती है, इसी प्रकार इच्छाओं के प्रवाह को रोकने से उसके भिन्न-भिन्न मार्ग बन जाते हैं; बालक का मानसिक जीवन 'विषम जालों' (Complexes) से भर जाता है, और उन्हीं के कारण वह चिड़चिड़ा, दुराग्रही, हठीला तथा निराशावादी हो जाता है। यद्यपि मनोविश्लेषण-वाद का प्रारंभ मस्तिष्क के रोगियों को ठीक करने से हुआ था, तो भी, आगे चलकर, शिक्षा-विज्ञान तथा समाज-शास्त्र के लिये यह अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ।

क्योंकि फ़्रॉयड ने अपना संपूर्ण समय रोगियों के अध्ययन में ही बिताया, इसलिये उसका वर्णन ऐसा है जैसे मनोविश्लेषण-वाद का संबंध रोगियों से ही हो, और 'विषम जाल' (Complexes) उन्हीं में पाए जाते हों। यह जरूरी नहीं कि 'विषम जाल' इच्छाओं को दबाने से ही उत्पन्न होते हों, और वे मानसिक

रोगियों में ही पाये जाते हों। प्रत्येक व्यक्ति के मन में 'विषम जालों' का समूह-का-समूह पाया जाता है। बचपन से ही हम प्रत्येक वस्तु के साथ किसी-न-किसी प्रकार के अपने उद्वेग (Emotions) जोड़ते रहते हैं, और इनसे 'अज्ञात-चेतना' के 'विषम जाल' बनते रहते हैं। बालक घर में अँगीठी के पास आकर बैठता है। वह अँगीठी में आग जलते हुए देखता है। आग को देखकर उसके मन में प्रकाश, गर्मी, क्षुधा-तृप्ति के विचार आग के साथ संबद्ध हो जाते हैं। आग के साथ इस प्रकार प्रसन्नता के उद्वेग (Emotion) का जुड़ जाना, 'अज्ञात-चेतना' में 'विषम जाल' का उत्पन्न हो जाना है। अगर आग को देखकर यह याद आए कि इससे भोजन पकेगा, भोजन से भूख मिटेगी, तब तो यह मानसिक प्रक्रिया 'प्रत्यय-संबंध-वाद' में आ जायगी। परंतु अगर आग को देखकर किसी को केवल ख़ुशी हो, और उस ख़ुशी का कारण समझ में न आये, तो इसका कारण 'अज्ञात-चेतना' में आग के संबंध में बना हुआ 'विषम जाल' (Complex) ही समझना चाहिए। इस प्रकार अनेक 'विषम जाल' भिन्न-भिन्न पदार्थों के संबंध में बचपन में हमारे मन में बनते रहते हैं। हम जानते हैं कि शराब पीना ठीक नहीं, हमारा दिमाग़ भी इस बात को स्वीकार करता है कि यह बुरा है, परंतु हमारी 'अज्ञात-चेतना' में बचपन में कुछ ऐसे संस्कार पड़ चुके हैं, कुछ ऐसे 'विषम जाल' बन चुके हैं कि हम उनके प्रभाव में आ जाते हैं। 'अज्ञात-चेतना' में बना हुआ

'विषम जाल' स्वाभाविक होता है, किन्हीं दार्शनिक विचारों या अध्ययन का परिणाम नहीं होता। अध्ययन से प्राप्त मानसिक विचार 'विषम जाल' नहीं कहाते। 'विषम जाल' तो ख़ुद-ब-ख़ुद बनते रहते हैं। 'अज्ञात-चेतना' में जो 'विषम जाल' बन जाते हैं, ज़रूरी नहीं वे अच्छे ही हों; ज़रूरी नहीं वे बुरे ही हों; यह भी ज़रूरी नहीं कि वे अतृप्त इच्छा के दबे रहने के कारण ही उत्पन्न हों। उदाहरण के लिये, एक बालक है, जो चूहे के मारने को देखकर डर जाता है। आगे से उसके व्यवहार में भय की मात्रा बढ़ जाती है। बड़े होने पर वह डरपोक स्वभाव का हो जाता है, परंतु उसे यह नहीं पता होता कि उसका ऐसा स्वभाव क्यों हो गया है। अगर उसे मोह-निद्रा में लाया जाय, तो हम देखेंगे कि 'चूहे' का नाम लेते ही वह चौंक जायगा। उसके इस प्रकार चौंकने से हमें पता लग जायगा कि 'चूहे' ने उसके जीवन को बनाने में कोई ख़ास हिस्सा लिया है। चूहे के विषय में उसकी 'अज्ञात-चेतना' में जो 'विषम जाल' (Complex) बना, वह किसी उद्वेग को दबाने (Repression) के कारण नहीं बना, यों ही, एक घटना को देखकर एक ख़ास प्रकार का मानसिक उद्वेग का धक्का (Emotional shock) लगने से बन गया। इस प्रकार के अच्छे, बुरे या अन्य प्रकार के 'विषम जालों' के बनते-बनते बालक का स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकार का बन जाता है।

हमने देखा कि फ़्रॉयड के कथन के अनुसार 'अज्ञात-चेतना' में कुछ उद्वेग-युक्त विचार, जिन्हें 'विषम जाल' (Com-

plexes) कहा जाता है, बंद रहते हैं, और वे हर समय उसमें से निकलने की कोशिश में रहते हैं। हमने यह भी देखा कि इन 'विषम जालों' का सिलसिला बचपन से शुरू होता है। अब हम यह देखेंगे कि फ्रॉयड के मत में ये विचार, जो 'अज्ञात-चेतना' में बंद रहकर उसमें से भिन्न-भिन्न रूपों में निकलने का यत्न करते रहते हैं, किस प्रकार के होते हैं।

फ्रॉयड का कथन है कि ये विचार लिंग-संबंधी (Sexual) होते हैं। वह कहता है कि बच्चे में लिंग-संबंधी विचार शुरू-शुरू में ही उत्पन्न हो जाते हैं। 'बालक अपनी माता के प्रति खिंचता है ; बालिका अपने पिता के प्रति। बालक के माता के प्रति और बालिका के पिता के प्रति खिंचाव को फ्रॉयड लिंग-संबंधी (Sexual) खिंचाव कहता है। कुछ देर तक तो इस प्रेम में कोई रुकावट नहीं आती, परंतु अगर माता बालक का दूध छुड़ाना चाहती है, तो बालक अनुभव करता है कि माता उसके प्रति सख़्ती कर रही है। इसके अतिरिक्त वह यह भी देखता है कि जिस प्रकार उसका पिता उसकी माता के प्रति प्रेम करता है, वैसा बालक को नहीं करने दिया जाता। यह देखकर वह अपने पिता को अपना प्रतिद्वंद्वी समझने लगता है। उसके भीतर एक संग्राम चल पड़ता है। वह अपनी प्रतिरुद्ध इच्छा को पूरा करने के लिये भिन्न-भिन्न प्रयत्न करता है। अँगूठा चूसना, पेशाब करना, मल त्याग करना, सब उसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं। फ्रॉयड के मत में, बालक की प्रत्येक क्रिया का आधार 'काम-

भावना' (Libido) है, इसीसे प्रेरित होकर वह भिन्न-भिन्न कामों में प्रवृत्त होता है। कुछ देर बाद उसकी 'काम-भावना' उत्पादक अंगों में केंद्रित होने लगती है, वह अपने गुह्य-अंगों का स्पर्श करने लगता है। इस पर माता-पिता उस पर और बिगड़ते हैं, उसकी इन बुरी आदतों को छुड़ाने के लिये उसे पीटते हैं। अब अपनी 'काम-भावना' (Libido) को प्रतिरुद्ध (Repress) करने के सिवा उसके पास क्या चारा रह जाता है? इस प्रकार 'काम-भावना' के प्रतिरोध के कई परिणाम निकलते हैं। 'काम-भावना' का तो स्वभाव ही ऐसा है कि वह प्रतिरुद्ध नहीं रह सकती; वह भिन्न-भिन्न तौर से, भिन्न-भिन्न मार्गों से फूट निकलती है। किसी का दिमाग़ बिगड़ जाता है, कोई पागल हो जाता है, किसी को मृगी हो जाती है, कोई हिस्टीरिया का शिकार हो जाता है।

'काम-भावना' (Libido) अज्ञात-चेतना में से बाहर न निकलेगी, तो अंदर-ही-अंदर उथल-पुथल मचाए रक्खेगी। तो क्या किया जाय? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि उसे इस प्रकार निकलने दिया जाय जिससे अनर्थ भी न हो, और 'काम-भावना' अंदर दबी भी न रहे। इस उपाय को 'रूपांतरित' (Sublimation) करना कहते हैं। काम-भाव के गीत गाना समाज में अच्छा नहीं समझा जाता, उसी को भक्ति-मार्ग का रूप देकर भारत तथा अन्य देशों के धर्म-प्रवर्त्तकों ने काम-भाव को रूपांतरित कर दिया है। शिक्षा में कला (Art) काम-भाव का ही 'रूपांतर' (Sublimation) है।

एडलर (१८७०) पहले फ़्रॉयड के साथ ही काम करता था, परंतु १९१२ में उसने 'मनोविश्लेषणवाद' में अपने संप्रदाय की पृथक् स्थापना की। उसने कहा कि फ़्रॉयड का यह कहना कि 'काम-भावना' (Libido) ही मनुष्य की प्रारंभिक क्रियाओं का आधार है, ग़लत है। एडलर ने कहा कि 'काम-भावना के आवेग' (Sex-impulse) का जीवन में मुख्य स्थान तो है, परंतु यह आवेग (Impulse) जीवन का सर्वेसर्वा नहीं ; जीवन में सबसे मुख्य स्थान, जीवन की सब से बड़ी शक्ति, जीवन का सबसे बड़ा आवेग 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा' (Self-assertive Impulse) का है।

एडलर का कथन है कि हमारे सामने जीवन में तीन प्रश्न आते हैं : हम समाज में दूसरों के साथ कैसे वर्तें ; बड़े होकर क्या पेशा करें ; जीवन में प्रेम के प्रश्न को किस प्रकार हल करें। इन तीनो प्रश्नों को सब लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से हल करते हैं। कोई व्यक्ति इन प्रश्नों को किस प्रकार हल करता है, यह उसके 'जीवन के तरीक़े' (Style of Life) पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति का 'जीवन का तरीक़ा' बचपन में ही निर्धारित हो जाता है। 'जीवन के तरीक़े' के आधार पर ही बालक की 'अज्ञात-चेतना' में 'विषम जाल' (Complexes) बनते रहते हैं। जिस समाज में बालक उत्पन्न होता है, जिन अवस्थाओं में वह अपने को पाता है, उनमें वह 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' से प्रत्येक काम करता है। 'शक्ति प्राप्त करने' में कभी उसे सफलता होती

है, कभी असफलता। उसी के आधार पर उसके 'विषम जाल' बनते रहते हैं। एक बालक दूसरे बालक के साथ खेल रहा है। खेल में दूसरे आगे निकल जाते हैं, वह पीछे रह जाता है। इसमें उसकी 'शक्ति प्राप्त करने' की इच्छा को संतोष नहीं मिलता। वह उन बालकों के साथ खेलना छोड़कर, अलग जाकर खेलने लगता है। अब उसका मुक़ाबिला करनेवाला कोई नहीं, उससे आगे निकलनेवाला कोई नहीं। इससे उसकी 'शक्ति प्राप्त करने' की इच्छा को संतोष मिलता है। उसकी 'अज्ञात-चेतना' में अपने छोटेपन का, दूसरों से अलग रहने का 'विषम जाल' बन जाता है। इस 'विषम जाल' बनने का कारण उसके 'जीवन का तरीक़ा' (Style of Life) होता है। जिस बालक ने बचपन में इस प्रकार दूसरों से अलहदा रहकर अपने सामाजिक जीवन की समस्या को हल किया है, वह 'जीवन के इस तरीक़े' को अपने पेशे में भी ले आएगा, और इसी तरीक़े से प्रेम की समस्या को हल करेगा। वह ऐसा पेशा पसंद करेगा जिसमें मुक़ाबिला न करना पड़े, ऐसी स्त्री से शादी करेगा जो सुलभ हो। इसी प्रकार उसकी 'शक्ति प्राप्त करने' की इच्छा पूर्ण हो सकती है, मुक़ाबिला करने से नहीं, क्योंकि वह दूसरों से कमज़ोर है। 'जीवन का तरीक़ा' ज़्यादातर बचपन में, और वह भी घर में, निश्चित हो जाता है। जो लड़का अपने माँ-बाप का इकलौता बेटा है, उसकी देख-रेख बहुत होती है, माँ-बाप उसके लिये सब-कुछ करने को उत्सुक रहते हैं। उसकी 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' बिना हाथ-पैर

चलाए पूरी होती रहती है, उसमें ऐसे 'विषम जाल' उत्पन्न हो जाते हैं कि उसमें साहस करने की प्रवृत्ति ही दिखलाई नहीं देती। उसके 'जीवन का यह तरीक़ा', उसकी यह सुस्ती, जीवन के तीनो विभागों में दृष्टिगोचर होती है। एक लड़का अपने माता-पिता का सबसे बड़ा पुत्र है। उसके 'जीवन का तरीक़ा' ऐसा हो जाता है कि वह छोटे भाइयों को सदा हुक्म देता रहता है। रोब जमाना उसके जीवन का हिस्सा हो जाता है। बड़े से छोटा लड़का जीवन-संग्राम में पीछे पड़ता है, इसलिये 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' के कारण वह उससे आगे निकलने की कोशिश करता है, उसके 'जीवन के तरीक़े' से उसके 'विषम जाल' ही ऐसे बनते हैं कि वह बड़े से अधिक तेज़ हो जाता है। तीसरे लड़के के 'जीवन का तरीक़ा' पहले तथा दूसरे से भी भिन्न होता है। वह अपने 'जीवन के तरीक़े' में 'शक्ति प्राप्त करने' की अपनी स्वाभाविक इच्छा को पूरा करना चाहता है, और एक भिन्न स्वभाव को उत्पन्न कर लेता है। 'शक्ति प्राप्त करने' की अपनी स्वाभाविक इच्छा को बालक अपने 'जीवन के भिन्न-भिन्न तरीक़ों' के अनुसार पूरा करते हैं। कई का 'जीवन का तरीक़ा' ऐसा है कि उन्हें शक्ति आसानी से मिल जाती है, वे हरएक बात में अपने को दूसरों से बड़ा समझने लगते हैं, उनकी 'अज्ञात-चेतना' में 'बड़प्पन का विषम जाल' (Superiority complex) उत्पन्न हो जाता है; कइयों का 'जीवन का तरीक़ा' ऐसा है कि उन्हें शक्ति आसानी से नहीं मिलती, वे हरएक बात

में अपने को दूसरों से छोटा समझने लगते हैं, उनकी 'अज्ञात-चेतना' में 'हीनता का विषम जाल' (Inferiority complex) उत्पन्न हो जाता है। जिन बालकों के 'जीवन का तरीक़ा' हीनावस्था का होता है, वे उस हीनता से बचने के लिये भिन्न-भिन्न उपायों का अवलंबन करने लगते हैं। जो बालक बदसूरत है, उसे अपनी बदसूरती का ख्याल हो जाय, तो वह दूसरों से मिलना-जुलना छोड़ देता है। जीवन के इस तरीक़े से वह समझता है कि अब उसकी बदसूरती को देखकर उसे नीचा समझनेवाला कोई नहीं। 'शक्ति प्राप्त करने' की अपनी स्वाभाविक इच्छा को वह इसी प्रकार से पूरा करता है। जो लड़का शारीरिक दृष्टि से निर्बल है, वह पढ़ाई में तेज़ होने का प्रयत्न करता है। निर्बल होने के कारण उसे जो नीचा देखना पड़ता है, पढ़ाई में तेज़ होकर वह उसे पूरा करने का प्रयत्न करता है। अनुत्तीर्ण हो जाने पर बालक अक्सर कहा करते हैं, अगर हम बीमार न पड़े होते, तो परीक्षा में ज़रूर उत्तीर्ण हो जाते। अपनी हीनता को मानने से इन्कार करने का यह भाव 'शक्ति प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा' का ही निदर्शक है। बच्चे अक्सर कहा करते हैं, यह काम हम ख़ुद करेंगे। ख़ुद करने के भाव से उनकी वही इच्छा पूर्ण होती है। एडलर के उक्त सिद्धांतों से बालक की शिक्षा के प्रश्न पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। एडलर ने जिस मनोविज्ञान का प्रतिपादन किया, उसे 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' (Individual Psychology) कहा जाता है।

मनोविश्लेषणवाद में तीसरे मुख्य व्यक्ति जंग (१८७५) महोदय हैं। जंग का फ़्रॉयड से दो बातों में मतभेद है। फ़्रॉयड का कथन है कि मनुष्य की मानसिक रचना में विकार उत्पन्न होने का कारण बचपन में उत्पन्न हुए 'अज्ञात-चेतना' में विद्यमान 'विषम जाल' (Complexes) हैं। जंग कहता है कि बचपन के 'विषम जाल' तो दूरवर्ती कारण (Predisposing cause) हैं। उनके अलावा, वर्तमान में, निकटवर्ती कारण (Exciting cause) भी मौजूद होता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हो सकता है कि व्यक्ति की 'अज्ञात-चेतना' में, अवशिष्ट रूप से कई बुरे 'विषम जाल' मौजूद हों, और फिर भी वे मन की विक्षिप्त अवस्था को उत्पन्न न करें। हाँ, अगर वर्तमान में व्यक्ति के सम्मुख कोई कठिन समस्या उपस्थित हो जाय, और वह उसका मुक़ाबला न कर सके, तो वह बाल्य-काल की विधि की ओर लौट जाता है, और ठीक ऐसी ही चेष्टाएँ करने लगता है जैसी वह बचपन में, ऐसी कठिनाई के उपस्थित हो जाने पर, करता। अगर उसकी कठिनाई का कोई हल निकल आता है तब तो ठीक; नहीं तो उसके मन का विक्षेप बना रहता है। इस दृष्टि से फ़्रॉयड तथा जंग में पहला भेद यह है कि फ़्रॉयड मानसिक विक्षेप का कारण भूत की कठिनाई, बचपन के 'अज्ञात-चेतना' के 'विषम जाल' मानता है; जंग भूत के साथ वर्तमान कठिनाई पर बल देता है।

दूसरा भेद 'काम-भावना' (Libido) के विषय में है।

फ्रॉयड 'काम-भावना' को जीवन की मुख्य शक्ति मानता है; एडलर 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' को; जंग इन दोनो को मिला देता है। जंग ने 'काम-भावना' का लिंग-संबंधी (Sexual) अर्थ न करके विस्तृत अर्थ किया है। वह कहता है कि 'काम-भावना' (Libido) जीवन की एक शक्ति है। उसके दो हिस्से हैं। एक 'लिंग-संबंधी प्रवृत्ति' (Sexual Impulse); दूसरी 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' (Self-assertive Impulse)। जिस प्रकार भौतिक शक्ति आग, बिजली, भाप आदि के रूप में बदलती जाती है, इसी प्रकार 'काम-भावना' (Libido) का अर्थ वह 'शक्ति' है जो बचपन में खेलने-कूदने, खाने-पीने, शरीर के भरण-पोषण करने के रूप में, और युवावस्था में प्रेम-भावना के रूप में प्रकट होती है। इस शक्ति को न केवल 'लिंग-संबंधी प्रवृत्ति' (Sexual Impulse) ही कहा जा सकता है; न केवल 'शक्ति प्राप्त करने की प्रवृत्ति' (Self-assertive Impulse) ही; इसमें ये दोनो शक्तियाँ शामिल हैं। जो लोग शक्ति प्राप्त करने की इच्छा से प्रेरित होते हैं, वे 'अंतर्मुख' (Introvert) कहे जाते हैं; जो विषय-वासना के पुजारी हैं वे 'बहिर्मुख' (Extrovert) कहे जाते हैं। इस प्रकार जंग ने फ्रॉयड के 'काम-भावना' (Libido) शब्द का विस्तृत अर्थों में प्रयोग किया है।

'मनोविश्लेषण' का विषय बिल्कुल नया विषय है। इसमें दिनोदिन नए-नए विचार उत्पन्न हो रहे हैं। हमने बालक की

शिक्षा से संबंध रखनेवाले मुख्य-मुख्य विचारों का ही यहाँ वर्णन किया है।

४. प्रयोजनवादी सम्प्रदाय

इस संप्रदाय का प्रवर्तक मैग्डूगल (१८७१) है। उसका कथन है कि व्यवहारवादियों का इतना कहना तो ठीक है कि जब भी प्राणी के सम्मुख कोई 'विषय' (Stimulus) उपस्थित होगा, उसमें उसके प्रति 'प्रतिक्रिया' (Response) भी होगी। परंतु 'विषय' के उपस्थित होने से ही 'प्रतिक्रिया' होती हो, उसमें और कुछ कारण न हो, इस बात को वह नहीं मानता। 'विषय' के सामने आने से पहले भी प्राणी के मन में कई 'प्रेरक कारण' (Motives) होते हैं, और उन 'प्रेरक कारणों' के अनुसार ही वर्तमान 'प्रतिक्रिया' (Response) होती है। ये 'प्रेरक कारण' ही वर्तमान 'प्रतिक्रिया' के निश्चायक होते हैं। कल्पना कीजिए कि आपका हाथ किसी गर्म चीज़ के छू जाने से जल गया, सामने पानी का घड़ा पड़ा है, आपने एकदम हाथ को पानी में डाल दिया। आपकी इस 'प्रतिक्रिया' में घड़े का सामने पड़ा होना-मात्र कारण नहीं हो सकता। कारण है, हाथ जलने से जो पीड़ा अनुभव हुई, उसे दूर करने की इच्छा। वह पीड़ा न हो, तो घड़े के सामने पड़े होने पर भी आप उसमें हाथ नहीं डालेंगे। इसीलिये मैग्डूगल का कथन है कि किसी खास परिस्थिति में हम क्या करेंगे, क्या नहीं करेंगे, इसका निर्णय व्यवहारवादियों की भाषा में नहीं किया जा सकता; यह नहीं

कहा जा सकता कि अमुक 'विषय' (Stimulus) उपस्थित हुआ, और अमुक 'प्रतिक्रिया' (Response) हो गई। ख़ास-ख़ास 'प्रतिक्रिया' को उत्पन्न करने के लिये प्राणी के मन में ख़ास-ख़ास 'प्रेरक कारणों' (Motives) का होना ज़रूरी है। उन 'प्रेरक कारणों' के अनुसार ही एक प्रकार के 'विषय' के उपस्थित होने पर एक तरह की 'प्रतिक्रिया' होगी; दूसरी तरह के 'प्रेरक कारणों' के होने पर दूसरी तरह की 'प्रतिक्रिया' होगी। एक आदमी भूखा है, उसके सम्मुख भोजन लाया जाता है, वह उस पर झपट पड़ता है; दूसरा आदमी भूखा नहीं है, उसके सामने भोजन लाया जाता है, और वह उसकी तरफ़ देखता भी नहीं। क्यों? इसलिये क्योंकि 'प्रतिक्रिया' का निश्चय हमारे मन में वर्तमान 'प्रेरक कारणों' के अनुसार होता है।

तो क्या इस प्रकार के 'प्रेरक कारण' (Motives) पशुओं में भी पाए जाते हैं? व्यवहारवादी 'प्रेरक कारणों' को न पशुओं में मानते हैं, न मनुष्यों में। उनका तो इतना ही कथन है कि प्राणी एक यंत्र के समान है, जिसके सम्मुख 'विषय' आता है, तो 'प्रतिक्रिया' उत्पन्न हो जाती है; परंतु मैग्डूगल कहता है कि पशुओं में 'प्रेरक कारण' होते हैं, और उनके भेद के कारण उनकी 'प्रतिक्रिया' भिन्न-भिन्न हो जाती है। पवलव के परीक्षण में हमने देखा था कि उसने भूखे कुत्ते पर परीक्षण किए थे। भूखे पर क्यों, तृप्त पर क्यों नहीं? क्योंकि भूख एक ऐसा 'प्रेरक कारण' है जिसके होने पर 'प्रतिक्रिया' एक तरह से होती है, न होने पर

दूसरी तरह से। इन 'प्रेरक कारणों' के भिन्न होने पर 'प्रतिक्रिया' भिन्न हो जाती है, व्यवहार दूसरी तरह का हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक बिल्ली चूहे को देख रही है। उस समय उसके 'प्रेरक कारण' उसकी एक-एक नस को चूहे पर झपटने के लिये तैयार कर रहे हैं। वही बिल्ली अगर कुत्ते को देख रही है, तो उसका सारा शरीर भागने की तैयारी कर रहा है। अतः आंतरिक 'प्रेरक कारण' ही प्राणी के व्यवहार को बनाता है। यह कारण प्रबल हो जाय, तो व्यवहार में प्रबलता आ जाती है; यह कारण निर्बल हो जाय, तो व्यवहार में निर्बलता आ जाती है। एक लड़का पढ़ने में बड़ा सुस्त है। उसे कहानी सुनने का शौक़ है। उसके हाथ में कहानियों की एक पुस्तक पड़ जाती है, अब वह दिन-रात पढ़ने में लगा हुआ दिखाई देता है। क्यों? क्योंकि उसके मन में एक 'प्रेरक कारण' प्रबल हो उठा है। इस 'प्रेरक कारण' के द्वारा प्राणी किसी काम को करने के लिये तैयार (Ready), तत्पर (Set) हो जाता है। किसी 'प्रेरक कारण' के द्वारा जब यह तैयारी, यह तत्परता प्राणी में उत्पन्न हो जाती है, तो हम कहते हैं कि उस प्राणी में प्रयोजन, उद्देश्य, लक्ष्य (Purpose) उत्पन्न हो गया है। शिक्षा की दृष्टि से बालक के मन में 'प्रयोजन' (Purpose) का उत्पन्न हो जाना बड़ा महत्त्व रखता है। एक लड़का अपने कुत्ते के लिये छोटा-सा घर बनाना अपना 'प्रयोजन' (Purpose) बनाता है। वह अपनी सारी शक्ति उसके बनाने में लगा देता है। ईंटें इकट्ठी करके लाता है। अगर उसे वे ईंटें

मोल लेनी पड़ी हैं, तो वह उन्हें गिनकर गिनती सीख जाता है और चीज़ों को ख़रीदना भी सीख जाता है। क्योंकि माप-मापकर कुत्ते का घर बना रहा है, उसे ऊँचाई-निचाई का ज्ञान भी हो जाता है। यह सब काम उसे अनायास आ जाता है। अगर कोई लड़का कॉलेज में पढ़ता है, उसने किसी विषय पर निबंध लिखना अपना उद्देश्य बना लिया है, तो अनेक पुस्तकों को वह आसानी से पढ़ डालता है। शिक्षक का काम बालक के मन में 'उद्देश्य', 'प्रयोजन' (Purpose) उत्पन्न कर देना है, ऐसा प्रयोजन बना नहीं कि उसने उसे पूरा करने के लिये ज़मीन-आसमान एक किया नहीं। 'प्रोजेक्ट सिस्टम' के आधार में यही नियम काम कर रहा है। लड़के अपने सामने एक प्रयोजन (Purpose), एक लक्ष्य बना लेते हैं, और उसे पूरा करने में जी-जान से लग जाते हैं, और उसी में सब कुछ सीख जाते हैं।

हमने मैग्डूगल के 'प्रेरक कारणों' का उल्लेख किया। हमारी 'विषय' के प्रति 'प्रतिक्रिया', हमारा व्यवहार एक ख़ास तरह का है, दूसरी तरह का नहीं, इसके हेतु ये 'प्रेरक कारण' ही हैं। परंतु ये 'प्रेरक कारण' हैं क्या चीज़? इन 'प्रेरक कारणों' को मैग्डूगल 'प्राकृतिक शक्ति' (Instincts) कहता है। हमारी 'प्राकृतिक शक्तियाँ'—भूख को मिटाना, लड़ना, संतानोत्पत्ति, संग्रह करना—आदि ही हमारे व्यवहार को बनाने में 'प्रेरक कारण' का काम देती हैं। कइयों का कहना है कि मनुष्य में कोई 'प्राकृतिक शक्तियाँ'

(Instincts) नहीं हैं, वह सब-कुछ परिस्थिति से सीखता है। मैग्डूगल इस बात को नहीं मानता। उसने इन शक्तियों की गणना की है, और ये शक्तियाँ किस प्रकार हमारे व्यवहार के बदलने में 'प्रेरक कारण' बनती हैं, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'प्राकृतिक शक्तियों' का विषय एक अलग विषय है, हम उनका वर्णन एक पृथक् अध्याय में करेंगे। मैग्डूगल ने अपने संप्रदाय की १९०८ में स्थापना की और इसका नाम 'प्रयोजन-वाद' (Purposivism ; Motivism या Hormic Psychology) रक्खा।

५. अवयवीवाद

जिस समय अमेरिका में व्यवहार-वाद की चर्चा शुरू हुई थी, उसी समय जर्मनी में 'अवयवी-वाद' का प्रारंभ हो रहा था। मनोविज्ञान के प्रचलित वादों में यह सबसे नवीन है। 'अवयवी-वाद' को 'जेस्टाल्ट-वाद' कहा जाता है। 'जेस्टाल्ट' जर्मन-भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है 'रूप' (Shape), 'आकृति' (Form), 'अवयवी', 'संबद्ध प्रत्यय', 'सामान्य' (Pattern)। अँगरेजी में इसके लिये 'कॉनफ़िगरेशन'-शब्द का प्रयोग होता है। हम देख चुके हैं कि १७, १८ और बहुत-कुछ १९वीं शताब्दी में 'प्रत्यय-संबंध-वाद' का ही बोलबाला था। 'प्रत्यय-संबंध-वाद' (Association of Ideas) मनुष्य के प्रत्येक अनुभव का विश्लेषण करता था ; इस वाद के अनुसार हमारे 'अनुभव' विचार के भिन्न-भिन्न अणुओं से बने होते हैं, ठीक

इस प्रकार जैसे रसायन-शास्त्र का कथन है कि भौतिक पदार्थ भिन्न-भिन्न तत्त्वों से बने होते हैं। विचार की इस प्रक्रिया को 'चिंतनाणुवाद' (Atomism of thought) कहा जाता है। अर्थात्, हमारे चिंतन का अगर विश्लेषण किया जाय, तो 'प्रत्यय' अलग-अलग दिखाई देंगे ; चिंतन के इन्हीं अणुओं, 'प्रत्ययों' के मिलने से विचार बनता है। 'व्यवहार-वाद' 'अनुभव' का विश्लेषण करने के बजाय 'व्यवहार' का विश्लेषण करता था ; हमारा प्रत्येक 'व्यवहार' 'विषय' तथा प्रतिक्रिया के संबंध के जुड़ने से उत्पन्न होता है। 'जेस्टाल्ट-वादियों' ने कहा कि 'अनुभव' तथा 'व्यवहार' का इस प्रकार भिन्न-भिन्न तत्त्वों में विश्लेषण करना, और यह कहना कि इनकी उत्पत्ति इन विश्लिष्ट तत्त्वों के संयोग से होती है, ग़लत विचार है। यह कहना कि पहले अमुक प्रत्यय आया, फिर अमुक आया, और इनके मिलने से अमुक विचार बन गया, मानसिक प्रक्रिया को न समझना है। 'प्रत्यय-संबंध-वादियों' के सम्मुख यह प्रश्न पहले भी एक दूसरे रूप में आ चुका था। अगर विचार भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के संबद्ध हो जाने से बनता है, तो ये प्रत्यय जुड़ते कैसे हैं, इनका संबंध कौन स्थापित करता है ? कई विचारक तो इतना कह देने से संतुष्ट थे कि बस, उन प्रत्ययों का संबंध किसी-न-किसी तरह जुड़ जाता है, परंतु आत्मवादी मनोवैज्ञानिक कहते थे कि इस संबंध को स्थापित करने के लिये मन अथवा आत्मा को मानो, तब संबंध जुड़ेगा, योंही कैसे जुड़ जायगा ? जेस्टाल्ट-वादियों ने

कहा कि हमारा ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के जुड़ जाने से नहीं बनता ; 'संबद्ध प्रत्ययों' (Patterns) के रूप में ही हमें ज्ञान होता है। हमें 'अवयवी' (Whole) का ज्ञान इकट्ठा होता है, भिन्न-भिन्न 'अवयवों' (Parts) के मिलने से नहीं। हम एक राग सुनते हैं। इस 'राग' को, भिन्न-भिन्न 'स्वरों' को जोड़कर उत्पन्न नहीं किया जा सकता, उसकी स्वरों से पृथक् राग-रूप में स्वतंत्र सत्ता है। दो भिन्न-भिन्न चेहरे बनाकर बिल्कुल एक तरह की ठोड़ी जोड़ दी जाय, तो ठोड़ी की शक्ल तथा उसका भाव, दोनो चेहरों में अलग-अलग दिखाई देने लगते हैं। यह क्यों ? इसलिये कि यद्यपि ठोड़ी दोनो चेहरों में एक ही है, 'अवयव' में कोई परिवर्तन नहीं, तो भी दोनो चेहरे भिन्न-भिन्न हैं, 'अवयवी' (Organised wholes) अलग-अलग हैं। पानी का एक बुदबुदा है, उसे कहीं से सुई से छुआ जाय, तो फूट जाता है। क्यों ? इसलिये कि वह बुदबुदा सारा मिलकर एक बनता है, उसकी भिन्न-भिन्न हिस्सों के रूप में कल्पना करना ठीक नहीं है।

जेस्टाल्ट-वाद का प्रारंभ १९१२ में कर्क कोफ़का (१८८६) तथा वोल्फ़ांग कोहलर (१८८७) ने किया था। इन लोगों ने अधिकतर परीक्षण 'दृष्टि' (Sight) पर किए थे। कल्पना कीजिए, एक आदमी हमसे १० फ़ीट की दूरी पर खड़ा है। अब उसे २० फ़ीट दूर कर दीजिए। आँख के भीतर की दीवार पर उसकी शक्ल पहली शक्ल से आधी हो जायगी, इसलिये वह आदमी पहले से आधे

परिमाण का दीखना चाहिए। परंतु ऐसा नहीं होता, वह उतना ही दीखता है, जितना पहले दीखता था। इसका उत्तर जेस्टाल्ट-वादी यही देते हैं कि पदार्थों की आकृति को, विश्लिष्ट रूप से, स्वतंत्र सत्ता नहीं कहा जा सकता, वह तो एक ख़ास परिस्थिति में मस्तिष्क पर जो प्रतिक्रिया होती है, उसका परिणाम है। इसलिये उस पदार्थ के दूर चले जाने पर भी, मस्तिष्क, संपूर्ण परिस्थिति को सामने रखकर जो प्रतिक्रिया होनी चाहिए, उसी को उत्पन्न कर देता है। आँख की भीतर की दीवार पर 'विषय' का प्रभाव पड़ता है, उससे पदार्थ का ज्ञान होता है; परंतु ज्ञान के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। इतने के अतिरिक्त, पदार्थ जिस परिस्थिति में है, जिन अवस्थाओं में है, वे सब मिलकर उसका ज्ञान कराते हैं।

जेस्टाल्ट-वादियों के उक्त विचारों का शिक्षा-मनोविज्ञान पर भी प्रभाव पड़ा है। हम कैसे सीखते हैं? थॉर्नडाइक का कहना था कि विषय के सामने होने पर हम एक ख़ास तरह से प्रतिक्रिया करते हैं। अगर वह प्रतिक्रिया सुखद होती है, तो मस्तिष्क में घर कर लेती है; अगर दुःखद होती है, तो मिट जाती है। बालक के सम्मुख इस प्रकार के विषय उपस्थित करना, जिनकी सुखद प्रतिक्रिया हो, शिक्षा के तत्त्व को समझना है। जेस्टाल्ट-वादी कहते हैं कि हमारी प्रतिक्रिया 'विषय विशेष' के प्रति नहीं होती, 'विषय सामान्य' (Patterns) के प्रति होती है। एक ख़रगोश के सम्मुख दो डब्बों में से एक में भोजन रक्खा जाता है। एक डब्बा 'क' है, दूसरा 'ख'। 'क' का

हल्का नीला रंग है, 'ख' का उससे कुछ गहरा नीला। भोजन सदा 'ख' में रक्खा जाता है, परंतु 'क' भी उसके नज़दीक पड़ा रहता है। ख़रगोश सदा 'ख' में जाता है। कुछ दिनों बाद 'क' को उठा लिया जाता है, उसकी जगह 'ग' डब्बा रख दिया जाता है। 'ग' का रंग 'ख' से भी कुछ गहरा है। हम देखते हैं कि अब खरगोश 'ख' में भोजन ढूँढने की जगह 'ग' में भोजन ढूँढ़ता है। यह क्यों ? अगर 'ख' के रंग को देखकर उसके प्रति वह प्रतिक्रिया करता था, तो 'ग' के आने पर भी उसे 'ख' में ही भोजन ढूँढना चाहिए था, वह 'ग' में क्यों जाता है ? इसलिये न, क्योंकि उसकी प्रतिक्रिया 'ख' विषय-विशेष के साथ नहीं हुई थी, अपितु गहरे नीले रंग के डब्बे के साथ हुई थी ; अवयव के प्रति नहीं, अवयवी के प्रति हुई थी ; विशेष के प्रति नहीं, सामान्य (Pattern) के प्रति हुई थी ; एक जेस्टाल्ट के प्रति हुई थी।

अगर यह बात ठीक है, तो यह मानना पड़ेगा कि प्राणी में विषय के प्रति प्रतिक्रिया यंत्र के नियमों की तरह नहीं होती, अपितु प्राणी संपूर्ण परिस्थिति का ग्रहण करता है, और उस संपूर्ण परिस्थिति (Total situation) के अनुसार प्रतिक्रिया करता है। मनुष्य के विषय में यह बात मान भी ली जाय, परंतु पशुओं के विषय में यह समझना कि उनका ज्ञान सीधा 'अवयवी' का, 'सामान्य' का होता है, कुछ कठिन-सा मालूम पड़ता है। परंतु जेस्टाल्ट-वादियों का कथन है कि इसमें कुछ असंगत बात नहीं है।

कोहलर ने १९१३ में चपांझियों पर परीक्षण किए। चपांझी पिंजड़े में बंद था। बाहर केला रख दिया गया। केले के साथ रस्सी बाँधकर पिंजड़े के पास रख दी गई। चपांझी ने रस्सी पकड़कर केला खींच लिया। कहा जा सकता है कि उसने रस्सी योंही खींच ली होगी। इस कल्पना का निराकरण करने के लिये कोहलर ने कई रस्सियाँ पिंजड़े से केले तक फैला दीं, उनमें से एक के साथ केला बँधा था, दूसरों के साथ नहीं। चपांझी ने रस्सियों को खींच-कर देखना शुरू किया, जिस रस्सी से केला खिंचना शुरू हुआ, उसे खींच लिया, दूसरी रस्सियों को नहीं खींचा। इससे यह परिणाम निकला कि चपांझी के मन में केले के इस परि-स्थिति में खिंच आने का विचार आया होगा। इस प्रकार का सामान्यात्मक ज्ञान, जिसमें केला, रस्सी आदि का पृथक्-पृथक् स्वतंत्र ज्ञान न हो, परंतु संपूर्ण परिस्थिति दीख जाय, 'जेस्टाल्ट' कहाता है, और जेस्टाल्ट-वादियों के कथनानुसार यह प्रक्रिया पशुओं तथा मनुष्यों, सबमें होती है। कोफ़का का कथन तो यह है कि 'सीखने' (Learning) का अस्ली तत्त्व यही है। बालक भिन्न-भिन्न अंशों को ग्रहण नहीं करता, सारी परिस्थिति को ग्रहण करता है। उसे हिज्जों से पढ़ाना शुरू करने के बजाय शब्दों का ज्ञान पहले देना चाहिए, शब्दों से भी पहले वाक्यों का। जेस्टाल्ट-वाद का कथन है कि हम 'अवयवी' से 'अवयव' की तरफ़ आते हैं, 'अवयव' से 'अवयवी' की तरफ़ नहीं। शिक्षा में, 'सीखना, भूलना, और फिर सीखना' (Trial and

Error Method)—इस तरीक़े के बजाय 'जेस्टाल्ट-वाद' ही असली तरीक़ा है, यह कोफ़्का की स्थापना है।

शिक्षा की दृष्टि से जेस्टाल्ट-वादियों की एक और बात बड़े महत्त्व की है। व्यवहार-वाद, 'विषय-प्रतिक्रिया-वाद' (Stimulus-Response theory) है। जेस्टाल्ट-वादी प्रो० ल्यूविन (१८६०) का कथन है कि माना कि विषय तथा प्रतिक्रिया का बंधन (Bond) रहता है, परंतु यह बंधन ही तो प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर देने के लिये काफ़ी नहीं है। आप पोस्ट बॉक्स में एक पत्र छोड़ने के लिये जेब में डालकर बाज़ार जाते हैं। पोस्ट बॉक्स 'विषय' है, और जेब में से पत्र निकालकर उसमें डालना 'प्रतिक्रिया' है। इन दोनों का आपने अपने मन में बंधन जोड़ लिया है। पोस्ट बॉक्स देखकर आप पत्र को जेब में से निकालकर उसमें डाल देते हैं। अब और आगे चलिए। आगे फिर एक पोस्ट बॉक्स दिखाई देता है। 'विषय-प्रतिक्रिया-वाद' का तो नियम यह है कि अभ्यास (Exercise) से उक्त बंधन और पुष्ट होगा। अब जब आप दोबारा पोस्ट बॉक्स देखते हैं, तब भी जेब से पत्र निकालकर उसमें डालने की प्रतिक्रिया होनी चाहिए। परंतु ऐसा नहीं होता। इससे मानना पड़ेगा कि विषय तथा प्रतिक्रिया में संबंध का स्थापित हो जाना प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने के लिये काफ़ी नहीं है। जब आपने पोस्ट बॉक्स में डालने के लिये पत्र जेब में डाला था, तो आपके भीतर एक तनाव (Tension) उत्पन्न हो गया था।

जब आपने पत्र डाल दिया, तो वह तनाव हट गया। अगर आप किसी दूसरे को पत्र डालने के लिये दे देते, तब भी यह तनाव हट जाता। क्रिया करने के लिये इस प्रकार का तनाव ज़रूरी चीज़ है। जब हमारे सामने कोई 'कठिनाई' (Obstacle) आती है, तो अंदर-ही-अंदर एक तनाव-सा पैदा हो जाता है। इस तनाव का होना क्रिया-शक्ति को बढ़ा देता है, क्योंकि मनुष्य उस काम को पूरा करके तनाव की हालत को दूर करना चाहता है। शिक्षा की दृष्टि से यह बात बड़े महत्त्व की है। विद्यार्थी के मन में कोई प्रश्न (Problem) पैदा कर दिया जाय, उसके भीतर एक तनाव उत्पन्न हो जाय, तब वह उस प्रश्न को हल करके ही आराम लेता है। इस प्रकार तनाव को हटाने का उद्योग करना भी जेस्टाल्ट-वाद की पुष्टि करता है। संपूर्ण परिस्थिति (Total situation) को न देखकर उसके किसी एक हिस्से (Part) को देखने के प्रयत्न से 'तनाव' उत्पन्न होता है, जो अस्वाभाविक है, और इसीलिये हम काम को पूरा करके उस तनाव को जल्दी-से-जल्दी निकालने की कोशिश करते हैं।

चतुर्थ अध्याय

'वंशानुसंक्रमण' तथा 'परिस्थिति'

बालक जो कुछ है, अपने माता-पिता के कारण है, यह एक प्रचलित विचार है। माता-पिता अच्छे हैं, योग्य हैं, तो संतान अच्छी और योग्य होगी; माता-पिता नालायक़ हैं, तो संतान नालायक़ होगी, हम उसका कुछ नहीं बना सकते। अगर यह विचार ठीक है, तो 'शिक्षा' का कोई स्थान नहीं रहता, और हमारा बालक के मानसिक विकास के लिये 'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर कुछ भी लिखना निरर्थक हो जाता है। इसलिये आगे बढ़ने से पहले, हमें यह देख लेना चाहिए कि बालक की शारीरिक तथा मानसिक रचना में वह हिस्सा कितना है जिसे हम बदल नहीं सकते, और वह हिस्सा कितना है जिसे हम बदल सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हमें यह देख लेना चाहिए कि बालक के विकास में माता-पिता का, बीज-परंपरा का, 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का कितना अंश है; और शिक्षक का, समाज का, 'परस्थिति' (Environment) का कितना अंश है। जिस मात्रा में परिस्थिति का हिस्सा अधिक होगा उसी मात्रा में 'शिक्षा' के संबंध में विचार करना सार्थक होगा, क्योंकि शिक्षा बालक की 'परिस्थिति' का ही एक मुख्यतम हिस्सा है।

१. प्रारंभिक विचार

योरप में १७, १८ तथा १९वीं शताब्दी के प्रारंभ तक यह समझा जाता था कि 'वीर्यकण' (Spermatozoa) अथवा 'रज:कण' (Ova) में भावी संतति बीज-रूप में रहती है। कई 'वीर्यकण' के पक्षपाती थे, कई 'रज:कण' के, परंतु ये दोनो मानते थे कि जैसे बिना खिली फूल की कली में पत्तियाँ बंद रहती हैं, अपने खिलने के समय की प्रतीक्षा करती हैं, इसी प्रकार अगली जितनी भी संततियाँ आनेवाली हैं, वे सब संक्षिप्त-रूप में वीर्य अथवा रज में बंद रहती हैं। इस प्रकार वीर्य अथवा रज में आगामी संतति की पहले से रचना माननेवाले 'पूर्व-रचना-वादी' (Preformationists) कहाते थे। इस वाद का मुख्य पोषक चार्लस बोनेट (१७२०-९३) था। उसका कथन था कि संसार में कोई नवीन रचना नहीं होती, कोई नया प्राणी उत्पन्न नहीं होता, जो भी उत्पन्न होते हैं वे संक्षिप्त रूप में, बीज रूप में, वीर्य अथवा रज के भीतर, एक के बाद दूसरी तह के अंदर, पहले से ही मौजूद हैं, उनके अंग-प्रत्यंग सब पहले से ही बने हुए हैं।

२. लेमार्क का विचार

'पूर्व-रचना-वाद' के द्वारा हम ज्यादा-से-ज्यादा यह कह सकते थे कि माता-पिता तथा संतति में समानता क्यों पाई जाती है; परंतु क्या हम यह नहीं देखते कि इन दोनो में समानता के साथ विषमता भी दीखती है ? समानता का कारण 'वंशानुसंक्रमण'

(Heredity) का सिद्धांत हो सकता है, फिर चाहे वह 'पूर्व-रचना-वाद' के अनुसार हो, चाहे और किसी वाद के अनुसार, परंतु विषमता का कारण क्या है ? इस प्रश्न पर पहले-पहल लेमार्क (१७४४–१८२६) ने प्रकाश डाला। लेमार्क ने १८०६ में यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक प्राणी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपने को बदलने का प्रयत्न करता है। अगर उसकी 'परिस्थिति' (Environment) बदल जाय, तो उसे ज़िंदा रहने के लिये अपने को बदलना पड़ता है। बदलने से उसमें जो परिवर्तन आते हैं वे संतति में चले जाते हैं, वंशानुसंक्रांत (Inherited) हो जाते हैं। जीराफ़ की गर्दन लंबी क्यों है ? शुरू-शुरू में ऊँचे वृक्षों के पत्ते खाने के लिये वह अपनी गर्दन को ऊँचा करता होगा, उसकी संतति की गर्दन उससे लंबी हुई होगी। आगे बढ़ते-बढ़ते कई संततियों में जाकर जीराफ़ की गर्दन बहुत लंबी हो गई होगी। लेमार्क का कथन है कि सर्दी, गर्मी, नमी से, भोजन के पर्याप्त मात्रा में मिलने न मिलने से, किसी काम को बार-बार करने (Use) या न करने (Disuse) से, प्राणी के शरीर या मन में जो परिवर्तन उत्पन्न होते हैं, वे आगामी संतति में भी जाते हैं। परिस्थिति (Environment) के कारण जो परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें 'अर्जित गुण' (Acquired Characters) कहते हैं। लेमार्क का कथन था कि अर्जित गुण आगामी संतति में संक्रांत होते हैं, इसी से नस्लें बदलती जाती हैं। शिक्षा की दृष्टि से यह

सिद्धांत बड़े महत्त्व का है। अगर 'अर्जित गुण' संक्रांत होते हैं, तो शिक्षक मनुष्य-समाज को उत्तरोत्तर उन्नति की तरफ़ ले जाने के कार्य में सफल हो सकता है; अगर ये संक्रांत नहीं होते, अगर शिक्षक को हर संतति के साथ नए सिरे से मग़ज़-पच्ची करनी है, तो उसका काम अत्यंत कठिन हो जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि लेमार्क के इस सिद्धांत पर बहुत मत-भेद खड़ा हुआ, अब तक विचारक लोग किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच पाए।

३. डार्विन का विचार

डार्विन (१८०६-१८८२) भी यही मानता था कि 'परिस्थिति' (Environment) प्राणी में परिवर्तन (Variation) उत्पन्न करती है, और वह परिवर्तन अनुसंक्रांत (Inherit) हो जाता है, उसी से प्राणियों की नस्लों में भेद आ जाता है। परंतु परिस्थिति प्राणी में परिवर्तन कैसे उत्पन्न करती है, इस प्रश्न पर डार्विन ने एक नवीन मत का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि अनेक प्राणी बहुत अधिक संतान उत्पन्न कर देते हैं। जब उनके लिये भोजन की मात्रा पर्याप्त नहीं होती, तब वे अपने जीवन को क़ायम रखने के लिये आपस में लड़ने लगते हैं। जो दूसरों की अपेक्षा अधिक बलवान् होते हैं, वे बाज़ी मार ले जाते हैं। 'बल' से मतलब शारीरिक बल से ही नहीं। न जाने किस मौक़े पर कौन-सी बात 'बल' सिद्ध हो जाय, और प्राणी उसी के सहारे जीवन-संग्राम में जीत जाय। ये बातें जिन्हें

हमने 'बल' कहा है, जिनके कारण एक प्राणी दूसरों को जीवन-संग्राम में पराजित कर देता है, जीवन में मुख्य वस्तु हैं। जिन प्राणियों में ये बातें होती हैं, वे जीवित रहते हैं; दूसरे भूख से, बीमारी से, लड़ाई से मारे जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति सबल प्राणियों को छाँटती जाती है, निर्बलों को खत्म करती जाती है। प्रकृति की दृष्टि में जो सबल प्राणी होते हैं, वे ही बच रहते हैं, और वे ही संतानोत्पत्ति करते हैं। उनके जो गुण थे, जिनके कारण वे सबल थे, वे अगली संतति में अनुसंक्रांत हो जाते हैं। इस प्रकार की छाँट को, इस प्रकार के चुनने की प्रक्रिया को विकासवाद की परिभाषा में 'प्राकृतिक चुनाव' (Natural Selection) कहते हैं; इस प्रक्रिया का नतीजा 'बलशाली का जिन्दा रहना तथा निर्बल का मर जाना' (Survival of the fittest) होता है।

परिस्थिति में परिवर्तन के साथ प्राणी में 'अनुकूल परिवर्तन' (Favourable Variation) उत्पन्न हो जाना ही बल है, उस परिवर्तन का न उत्पन्न होना ही निर्बलता है। इन 'परिवर्तनों' के विषय में डार्विन का कथन था कि ये दो तरह के होते हैं: 'क्रमिक परिवर्तन' (Continuous Variations या Modifications) तथा 'आकस्मिक परिवर्तन' (Discontinuous Variations या Mutations)। 'क्रमिक परिवर्तन' का अभिप्राय तो यह है कि वह धीरे-धीरे हुआ, कुछ इस संतति में हुआ, कुछ अगली में हुआ, होता-होता आखीरी संतति में बहुत

अधिक बढ़ गया। 'आकस्मिक परिवर्तनों' से अभिप्राय ऐसे परिवर्तनों से है, जो एकदम हो जाते हैं, उनका क्रमिक विकास नहीं होता, न उनके कारण का कुछ पता चलता है। डार्विन के बाद 'आकस्मिक परिवर्तनों' की तरफ़ इंगलैंड में बेटसन (१८६१-१९२६) तथा हालैंड में डी व्राइज़ (१८४८) ने विशेष रूप से विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। इन दोनो प्रकार के परिवर्तनों को डार्विन वंशानुसंक्रांत (Inherit) होनेवाला मानता था।

'वंशानुसंक्रमण' किन नियमों के आधार पर होता है, इस विषय में डार्विन का विचार यह था कि शरीर के प्रत्येक अंग का नमूना, जिसे वह 'जेम्यूल्स' (Gemmules) कहता था, 'उत्पादक कोष्ठों' (Germ Cells) में जाता रहता है, और फिर 'उत्पादक कोष्ठों' से वैसे-का-वैसा शरीर उत्पन्न हो जाता है। इस विचार को 'पैनजनिसिस' (Pangenesis) कहा जाता था। अब यह विचार नहीं माना जाता।

४. गाल्टन तथा [illegible]ज़मैन का विचार

अभी तक लेमार्क तथा [illegible] ने ही माता-पिता तथा संतान में समता एवं विषम[illegible] [illegible] पर 'वंशानुसंक्रमण' और 'परिस्थिति' की दृष्टि से विचार किया था। दोनो ने 'अर्जित गुणों' (Acquired Characters) के अनुसंक्रांत होने के पक्ष में ही अपने विचार प्रकट किये थे। अब गाल्टन (१८२२-१९११) ने इस प्रश्न पर विचार शुरू किया। उसने

देखा कि संतति केवल माता-पिता से ही नहीं मिलती, कहीं-कहीं दादा-परदादा से भी मिलती है। इसका क्या कारण? उसने इस समस्या को हल करने के लिये १८७५ में यह कल्पना की कि माता-पिता के 'वीर्य' तथा 'रज' के 'उत्पादक कोष्ठों का तत्त्व' (Germ Plasm) बालक के शरीर में ज्यों-का-त्यों बना रहता है, और अगली संतति तक चलता जाता है। तभी तो यह संभव हो सकता है कि एक व्यक्ति अपने पिता से इतना नहीं मिलता जितना अपने दादा से मिलता है। कोई ऐसी चीज़ होगी जो दादा से पोते में सीधी आई? 'अर्जित गुणों' के विषय में उसने कहा कि वे संक्रांत नहीं होते, उनका प्रभाव केवल शरीर पर होता है। कुत्ते की दुम काट दी जाय, और इस वंश की हरएक संतति की दुम चाहे क्यों न काटते चले जायँ, वह अगली संतति में अवश्य प्रकट होगी। इसलिये यह मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि वे ही गुण अगली संतति में संक्रांत होते हैं जिनका सीधा 'उत्पादक कोष्ठों के तत्त्व' (Germ Plasm) पर असर होता है। यह पदार्थ क्योंकि वंश-परंपरा से आगे-आगे चलता है, इसलिये इस पर जो प्राभाव पड़ जायगा वही संक्रांत हो सकेगा, हरएक गुण नहीं। गाल्टन के इस विचार को लेकर विज़मैन (१८३४–१९१४) ने आगे बढ़ाया। उसका कथन था कि 'उत्पादक पदार्थ' (Germ Plasm) पिता से पुत्र में, और पुत्र से आगे, निरंतर चलता रहता है, इसलिये उसके सिद्धांत को 'उत्पादक तत्त्व की निरंतरता' (Continuity

of Germ Plasm) का नाम दिया जाता है। वैसे तो इस वाद का प्रारंभ गाल्टन ने किया था, परंतु यह विज़मैन के नाम से ही प्रसिद्ध है।

'उत्पादक तत्त्व की निरंतरता' का क्या अभिप्राय है? विज़मैन का कथन था कि प्रत्येक नर तथा मादा का शरीर दो प्रकार की रचनाओं से बना हुआ है। ये रचनाएँ प्राणी के शरीर को बनानेवाले दो 'कोष्ठ' (Cells) हैं। पहले प्रकार के कोष्ठों का नाम 'शारीर कोष्ठ' (Somatic cells) है; दूसरे प्रकार का नाम 'उत्पादक कोष्ठ' (Generative cells) है। 'शारीर कोष्ठों' से शरीर के भिन्न-भिन्न अंग बनते हैं, वे शरीर की रचना करते हैं, और अपनी आयु भुगतकर मर जाते हैं; परंतु इन नश्वर 'शारीर कोष्ठों' के भीतर अविनश्वर 'उत्पादक कोष्ठ' रहते हैं। 'शारीर कोष्ठों' का काम इन 'उत्पादक कोष्ठों' की रक्षा करना है। नर के 'उत्पादक कोष्ठों' को 'वीर्यकण' तथा मादा के उत्पादक कोष्ठों को 'रजःकण' कहते हैं। नर के 'उत्पादक कोष्ठ' उसके शरीर में से निकलकर मादा के गर्भाशय में प्रविष्ट होकर उसके 'उत्पादक कोष्ठों' से मिल जाते हैं, और इसी से शिशु का जन्म होता है। शिशु के शरीर में 'उत्पादक कोष्ठ' अपने सदृश दूसरे 'उत्पादक कोष्ठों' (Generative cells) को तो उत्पन्न करते ही हैं, परंतु साथ-ही-साथ 'शारीर कोष्ठों' (Somatic cells) को भी उत्पन्न करते रहते हैं। ये 'शारीर कोष्ठ' स्वयं नष्ट होते रहते हैं, परंतु 'उत्पादक कोष्ठों' को नष्ट नहीं

होने देते। 'उत्पादक कोष्ठ' नष्ट होने के बजाय पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र और इसी प्रकार संतान से संतान में चलते जाते हैं। ये मानो हमें धरोहर में मिली संपत्ति हैं, हम इन्हें सुरक्षित रखते हैं। जिस प्रकार बैंक में रुपया जमा रहता है, इस प्रकार ये मानो हम में जमा रहते हैं। 'उत्पादक कोष्ठों' के इसी संतान से संतान में प्रवाह को 'उत्पादक तत्त्व की निरंतरता' (Continuity of Germ Plasm) कहा जाता है।

'उत्पादक कोष्ठों' (Generative cells) में वर्तमान 'उत्पादक तत्त्व' (Germ plasm) ही पैत्रिक गुणों के संतति में संक्रांत होने का भौतिक आधार है। इन 'उत्पादक कोष्ठों' में एक कठोर गाँठ-सी होती है जिसे 'न्यूक्लियस' (Nucleus) कहते हैं। इस 'न्यूक्लियस' में भी छोटे-छोटे रेशे-से होते हैं, जिन्हें 'क्रोमोसोम्स' (Chromosomes) कहते हैं। विज़मैन का कथन था कि यही 'क्रोमोसोम्स' पैत्रिक गुणों के वाहक होते हैं। अब दूरवीक्षण यंत्र के अधिक उन्नत हो जाने पर नए परीक्षणों से पता चला है कि 'क्रोमोसोम्स' की रचना और छोटे-छोटे दानों से होती है जिन्हें 'जेनीज़' (Genes) कहते हैं। यही 'जेनीज़' ऊँचाई, लंबाई, गोरापन, कालापन आदि भिन्न-भिन्न गुणों के 'वाहक' (Carriers या factors) होते हैं। एक 'जेनीज़' में एक ही गुण रह सकता है, दो नहीं। मनुष्य के 'उत्पादक कोष्ठ' में चौबीस 'क्रोमोसोम्स' होते हैं, ऐसा पता लगाया गया है।

५. मेंडल के विचार

मेंडल (१८२२–८४) ने स्वतंत्र रूप से अपने परीक्षण किए थे। यद्यपि उसने उन्हें १८६५ में प्रकाशित करा दिया था, तथापि १९ वीं शताब्दी के अंत में जाकर उन परीक्षणों का महत्त्व विद्वानों को समझ पड़ा। इन परीक्षणों से विज़मैन के 'उत्पादक तत्त्व की निरंतरता' के सिद्धांत पर अच्छा प्रकाश पड़ता था। मेंडल ने बड़े (Tall) तथा छोटे (Short) मटरों पर परीक्षण किए थे। उसने बड़े तथा छोटे मटरों का संयोग कराके यह देखना चाहा कि उनकी वंश-परंपरा कैसे चलती है। पहली पीढ़ी में कुछ बड़े और कुछ छोटे हुए। इस पहली पीढ़ी में बड़े तथा छोटे, दोनो का अंश मौजूद था। इस पीढ़ी की अगली जो पीढ़ी हुई उसमें बड़ों के बड़े ही मटर होते, और छोटों के छोटे ही होते, ऐसा नहीं देखा गया। उनमें एक नियम काम कर रहा था। वह नियम यह था कि बड़े मटरों की पीढ़ी में २५ प्रतिशतक तो 'शुद्ध बड़े' थे, अर्थात् अगली पीढ़ियों में बड़ों को ही पैदा करते थे, छोटों को नहीं ; २५ प्रतिशतक 'शुद्ध छोटे' थे, अर्थात् अगली पीढ़ियों में छोटों को ही पैदा करते थे, बड़ों को नहीं ; ५० प्रतिशतक 'मिश्रित' थे, अर्थात् बड़े होते हुए भी अगली पीढ़ियों में ऊपर के नियम के अनुसार ही वंश-परंपरा चलाते थे। यही नियम छोटे मटरों में काम करता हुआ दीख पड़ता था। इस नियम को चित्र में प्रकट करना चाहें, तो यों लिख सकते हैं :—
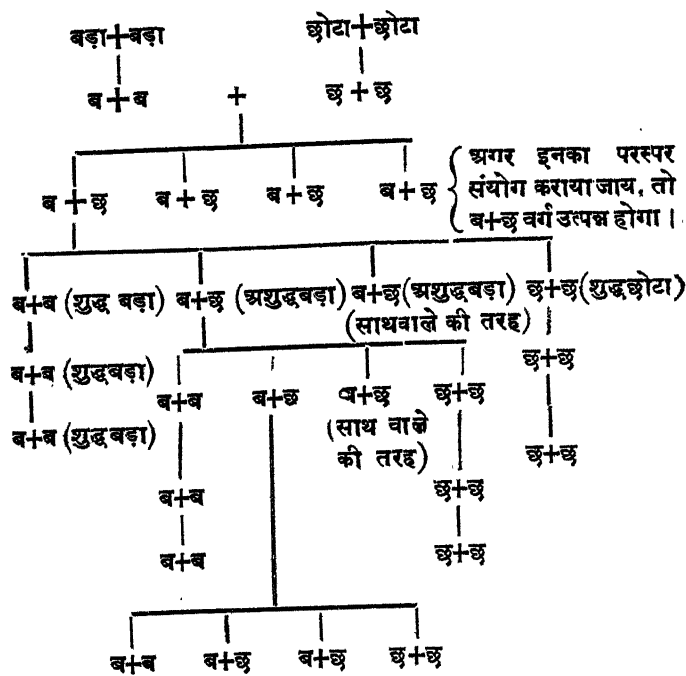
बड़े मटर के बड़े के साथ संयोग होने से बड़े उत्पन्न होंगे; छोटे के छोटे के साथ संयोग से छोटे होंगे। परंतु 'ब+छ' के 'ब+छ' के साथ संयोग में अगर बड़ा प्रधान है, तो ३ बड़े होंगे, १ 'शुद्ध छोटा' होगा। तीन बड़ों में १ 'शुद्ध बड़ा' होगा, अर्थात् उसकी अगली पीढ़ी भी बड़ों की ही होगी; २ 'अशुद्ध बड़े' होंगे, अर्थात् होंगे तो बड़े, लेकिन अगली पीढ़ी में बड़े-छोटों का वही ३ और १ का अनुपात रहेगा। यह चित्र बड़ों को 'प्रधान' तथा छोटों को 'गौण' समझकर बनाया गया है। ऐसा ही चित्र छोटों

को 'प्रधान' तथा बड़ों को 'गौण' समझकर बनाया जा सकता है। उस अवस्था में छोटे-बड़ों का अनुपात क्रमशः ३ और १ का होगा।

'प्रधान' तथा 'गौण' का क्या अर्थ है? हम पहले देख चुके हैं कि जब नवीन उत्पत्ति होती है, तो माता तथा पिता के 'उत्पादक कोष्ठों' के बीच में 'न्यूक्लियस' होता है, उसमें 'क्रोमोसोम्स', और उनमें भी 'जेनीज़' होते हैं। 'जेनीज़' अनेक होते हैं, और उनमें से एक-एक माता-पिता के भिन्न-भिन्न गुणों का वाहक होता है। जब बड़े तथा छोटे का संयोग हुआ, तो संतति में या बड़ेपन के 'जेनीज़' प्रधान होंगे, या छोटेपन के। 'प्रधान' जेनीज़ को 'प्रभावशाली' (Dominant) कहा जाता है; गौणों को, प्रभाव में आनेवालों को, 'प्रभावित' (Recessive) कहते हैं। काले तथा नीले रंगवाले माता-पिता की संतान में, अगर काला रंग प्रधान हो जाय, तो काले रंग के ही नेत्र होंगे, क्योंकि काला 'प्रभावक' (Dominant) तथा नीला 'प्रभावित' (Recessive) हो गया। हाँ, इनकी अगली पीढ़ी में माता तथा पिता दोनो की काली आँखें होते हुए भी, नीली आँखों की संतान आ सकती है, क्योंकि माता-पिता के 'उत्पादक कोष्ठों' में नीले रंग के वाहक 'जेनीज़' मौजूद हैं। यही कारण है कि कभी-कभी पुत्र की पिता से समानता न होकर पितामह से, प्रपितामह से, या माता के किसी संबंधी से पाई जाती है। कभी-कभी संतति में बहुत पिछली पीढ़ियों के चिह्न प्रकट होने लगते

हैं। इस घटना को विकासवाद की परिभाषा में 'एटविज्म' (Atvism) कहते हैं।

६. मैग्डूगल तथा हैरीसन के परीक्षण

लेमार्क का कथन था कि 'अर्जित गुण' संक्रांत होते हैं; विज्र-मैन ने कहा, नहीं होते। अगर विज्रमैन का कथन ठीक है, तो शिक्षक बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है। जिन गुणों को वह बालक में उत्पन्न कराता है, उसे अनंत काल तक ऐसे ही कराते जाना होगा, क्योंकि ये संक्रांत तो होंगे नहीं, परिस्थिति का, शिक्षा का अगली पीढ़ी पर कोई फल तो है नहीं। इस विषय में मैग्डूगल के परीक्षणों से नवीन प्रकाश पड़ रहा है और फिर से लेमार्क के कथन की पुष्टि होती नजर आ रही है। मैग्डूगल तथा हैरी-सन के परीक्षण निम्न हैं:—

(क). मैग्डूगल ने चूहों पर परीक्षण किया। उन्हें पानी के एक तालाब में डाल दिया। उसमें से निकलने के दो मार्ग थे। एक में अँधेरा था, दूसरे में प्रकाश। चूहे प्रकाशवाले मार्ग से बाहर निकलने का प्रयत्न करते थे, परंतु ज्योंही वे उधर जाते थे, उन्हें बिजली का धक्का दिया जाता था। विवश हो उन्हें अँधेरे मार्ग से जाना पड़ता था। मैग्डूगल ने गिना कि १६५ बार ग़लती करके पहली पीढ़ी के चूहों ने अँधेरे मार्ग से जाना सीखा। वह इन परीक्षणों को उनकी कई पीढ़ियों पर करता गया। तेईसवीं पीढ़ी में जाकर देखा गया कि २५ बार ग़लती करके वे अँधेरे रास्ते से जाना सीख गए। इससे यह परिणाम निकला

कि प्रत्येक पीढ़ी का 'अर्जित गुण' अगली पीढ़ी में 'संक्रांत' हो सकता है।

(ख). हैरीसन ने एक विशेष प्रकार के पतंगों पर परीक्षण किया। उसने देखा कि कलाघरों के आस-पास के प्रदेश के पतंग कुछ काले-से रंग के थे। उसने शुद्ध रंग के पतंगों को लिया। उनके दो विभाग कर दिए। एक टोली को साधारण भोजन दिया, दूसरी को वही भोजन दिया जो कलाघरों के आस-पास रहने-वाले मच्छरों को मिलता था। पहली टोली की संतति का रंग साधारण रहा, परंतु दूसरी टोली की संतति का रंग काला-सा हो गया। इस परीक्षण से भी यही सिद्ध हुआ कि 'अर्जित गुण' अगली पीढ़ी में संक्रांत होते हैं।

(ग). उक्त परीक्षणों के अतिरिक्त लेमार्क के मत की पुष्टि में अन्य प्रमाण भी पेश किए जाते हैं और कहा जाता है कि माता-पिता द्वारा अर्जित किए हुए शारीरिक गुण ही नहीं, मानसिक गुण भी संतति में संक्रांत होते हैं। उदाहरणार्थ, 'वेजवुड-डार्विन-गाल्टन'-वंशों के इतिहास को देखकर कहा जाता है कि इस वंश में जितने विज्ञानवेत्ता हुए हैं, उतने दूसरे किसी वंश में नहीं। इसी प्रकार 'जूक्स' (Jukes)-नामक एक अमरीकन वंश है। दो सौ साल हुए जब एक बदमाश से यह वंश चला। इस वंश में ३ हज़ार से अधिक व्यक्ति अब तक हो चुके हैं, परंतु सब एक-दूसरे से बदमाशी में बढ़े हुए हैं। 'जूक्स' की तरह एक और वंश का अध्ययन किया गया है जिसका नाम 'कालीकाक'

(Kallikak) वंश है। इस वंश के प्रवर्तक ने एक बदमाश स्त्री से शादी कर ली थी जिसकी अब तक वैसी ही संतानें चली आ रही हैं। उसके बाद उसी व्यक्ति ने एक भली औरत से शादी की और उसके वंश से अब तक भलेमानस ही चले आ रहे हैं।

इन परीक्षणों तथा वंशों के इतिहासों से यह परिणाम निकलता है कि कई गुण, जिन्हें हम 'अर्जित गुण' का नाम देते हैं, संतति में संक्रांत होते हैं। संभव है, उनका सीधा 'उत्पादक कोष्ठों' पर असर हो जाता हो, और असली परिवर्तन उत्पादक कोष्ठों द्वारा ही होता हो। परंतु कुछ भी हो, शिक्षक की दृष्टि से यह बात बड़े महत्त्व की है कि हमारे अनेक अर्जित शारीरिक तथा मानसिक गुण संतति में संक्रांत होते हैं। इसीलिये प्रत्येक पीढ़ी में पिछली पीढ़ी का सारा इतिहास अंतर्निहित रहता है। विकासवादी तो यहाँ तक कहते हैं कि प्राणी पिछली पीढ़ियों में जिन-जिन अवस्थाओं में से गुज़रा है, वे सब इस जन्म में कुछ-कुछ देर के लिये बचपन में प्रकट होती हैं, और उनमें से गुज़रकर ही हम बड़े होते हैं। गर्भावस्था में शिशु भिन्न-भिन्न शक्लों में से गुज़रता है जो लगभग पशुओं से मिलती-जुलती हैं। इस सिद्धांत को 'पुनरावृत्ति' (Recapitulation) का सिद्धांत कहा जाता है। इस पीढ़ी में पिछली सब पीढ़ियों का मानो संक्षिप्त उपसंहार, उनकी 'संक्षिप्त पुनरावृत्ति' हो जाती है। अगर शरीर के विकास में इस प्रकार की 'पुनरावृत्ति' होती है, तो मन के विषय में भी ऐसी 'पुनरावृत्ति' मानना असंगत नहीं

है। इसी सिद्धांत को शिक्षा के क्षेत्र में घटाते हुए कइयों का कथन है कि बालक को उसी क्रम से सिखाना चाहिए जिस क्रम से जाति ने सीखा है। इस विचार का हर्बार्ट ने प्रतिपादन किया था, और उसी के शिष्य ज़िलर ने इसे और आगे बढ़ाया था। इनके सिद्धांत को 'कल्चर ईपक थियोरी' (Culture Epoch Theory) कहा जाता है। जाति का मन विकास के जिस क्रम में से गुज़रा है, बालक के मन को भी विकास के उसी क्रम में से गुज़ारना चाहिए। साहित्य के पढ़ाने में शुरू-शुरू में क़िस्से-कहानियाँ पढ़ानी चाहिएँ, क्योंकि शुरू-शुरू में इन्हीं से साहित्य शुरू हुआ था। इसी प्रकार अन्य विषयों में इस सिद्धांत को घटाया जाता है। विज्ञान में इसी सिद्धांत को आर्मस्ट्रांग ने घटाया था। उसका कथन था कि शिक्षक का कर्तव्य है कि विद्यार्थी को उस सब प्रक्रिया में से गुज़ारे जिसमें से गुज़रते हुए पिछले विचारकों ने उस नियम का आविष्कार किया था। इसी तरह से वह नियम ठीक तौर से समझा जा सकता है। इस सिद्धांत को 'ह्यूरिस्टिक मैथड' (Heuristic Method) कहा जाता है।

संक्षेप में, हमने देखा कि 'वंशानुसंक्रम' तथा 'परिस्थिति' के नियमों का बालक के विकास में बहुत बड़ा स्थान है। 'परिस्थिति' अथवा शिक्षा बालक के विकास में क्या कर सकती है? 'वंशानुसंक्रम' के जिन नियमों का हमने अध्ययन किया है, उनसे यह तो स्पष्ट है कि शिक्षा के द्वारा हम ऋषि, मुनि तो नहीं पैदा

कर सकते, परंतु इसका यह मतलब नहीं कि 'वंशानुसंक्रम' तथा 'परिस्थिति' के नियम सदा एक-दूसरे के विरोध में ही काम करते हैं। इन्हें एक दूसरे का पूरक भी बनाया जा सकता है। 'वंशानुसंक्रम' बीज है, 'परिस्थिति' उसके पनपने के लिये सामग्री है, खाद है; 'वंशानुसंक्रम' प्रसुप्त शक्ति है, 'परिस्थिति' उस शक्ति को विकसित करने का साधन है।

शिक्षा क्या कर सकती है? शिक्षा वंशानुसंक्रम को, बीज-परंपरा को (Biological heredity) को तो नहीं बदल सकती, परंतु सामाजिक परंपरा को बदल सकती है। शिक्षा एक काले हबशी को गोरा अँगरेज तो नहीं बना सकती, परंतु उस हबशी की सामाजिक परंपरा को बदल सकती है, उसे ऐसी परिस्थिति में रख सकती है कि वह बहुत बढ़िया अँगरेजी बोले, अँगरेजों के दृष्टिकोण से ही प्रत्येक प्रश्न पर विचार करे, उन्हीं के रहन-सहन को अपने लिये स्वाभाविक समझने लगे। शिक्षा का काम सामाजिक परंपरा (Social heredity) को बनाए रखना तथा उसमें संशोधन एवं परिवर्धन करते रहना है। समाज के विकास के लिये इतना भी कम नहीं है। बीज-परंपरा (Biological heredity) को बदलने का काम एक दूसरे विज्ञान का है, जिसे 'यूजेनिक्स' (Eugenics) कहते हैं।

पंचम अध्याय

'प्राकृतिक शक्तियाँ' (Instincts)

तृतीय अध्याय में हमने 'व्यवहारवादियों, (Behaviorists) तथा 'प्रयोजनवादियों' (Purposivists) का वर्णन किया है। व्यवहारवादी वाटसन आदि जीवन की प्रत्येक क्रिया को यांत्रिक कहते हैं। उनके मत में 'विषय' (Stimulus) सामने आता है, वह 'ज्ञान-वाहक तंतुओं' (Sensory Nerves) से ज्ञान के 'केंद्र' (Centre) में पहुँचता है, और वहाँ से 'चेष्टा-वाहक तंतुओं' (Motor Nerves) द्वारा शरीर की मांसपेशियों में क्रिया उत्पन्न हो जाती है। 'ज्ञान-वाहक तंतुओं' से ज्ञान के केंद्र में जाकर, वहाँ से 'चेष्टा-वाहक तंतुओं' द्वारा मांसपेशी तक जो लंबा, घुमाव लिए हुए रास्ता है, इसे 'सहज क्रिया गोलार्ध' (Reflex arc) कहा जाता है। व्यवहारवादियों का कथन है कि प्रत्येक प्राणी का व्यवहार इसी 'सहज क्रिया गोलार्ध' से होता है, इसमें चेतना को कोई स्थान नहीं। प्रयोजनवादी मैग्डूगल इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं। उसका कहना है कि प्राणी की प्रतिक्रिया, उसका व्यवहार यांत्रिक नहीं है। यंत्र की तरह चलने-वाले प्राणी के कार्यों को ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो वे प्रयोजनपूर्वक चलनेवाले सिद्ध होते हैं। प्राणी का प्रत्येक कार्य किसी-न-किसी

'प्रयोजन' को लिए हुए होता है। 'प्रयोजन' के अतिरिक्त प्राणी में अन्य कई शक्तियाँ भी हैं, जिनके आधार पर ही प्राणी के व्यवहार को समझा जा सकता है; व्यवहारवादियों की तरह प्राणी को यंत्र मानकर उसके व्यवहार को नहीं समझा जा सकता।

१. आधारभूत शक्तियाँ

तो फिर वे शक्तियाँ कौन-कौन-सी हैं? प्राचीन काल में माना जाता था कि प्रत्येक मनुष्य में विचार, स्मरण, तर्क आदि की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ (Faculties) हैं। अब मनोविज्ञान ऐसा नहीं मानता। हम जिन अर्थों में 'शक्ति'-शब्द का प्रयोग कर रहे हैं वह प्राचीन प्रयोग से भिन्न है। हम जिन शक्तियों की तरफ़ निर्देश कर रहे हैं वे मन की स्वतंत्र शक्तियाँ नहीं, मानसिक अनुभव के ही भिन्न-भिन्न पहलू हैं। वे पहलू तीन हैं। कौन-कौन से?

(क). पहली बात जिससे कोई इनकार नहीं कर सकता यह है कि प्रत्येक प्राणी में उसका पिछला अनुभव संचित रहता है। पर्सी नन ने मन के इस गुण के लिये 'नेमे' (Mneme)-शब्द का प्रयोग किया है; हम 'नेमे' के लिये 'संचय'-शब्द का प्रयोग करेंगे। हम जीवन में जिस अनुभव में से भी गुज़रते हैं वह हमारे मस्तिष्क की रचना पर कोई-न-कोई प्रभाव छोड़ जाता है। इस 'संचय'-शक्ति का ही दूसरा रूप 'स्मृति' है। 'संचय'-शक्ति (Mneme) तथा 'स्मृति' (Memory)-में भेद है। जब हम पुस्तक पढ़ रहे होते हैं, तो हम अक्षरों को, शब्दों को, वाक्यों को स्मरण नहीं कर रहे होते,

परंतु फिर भी हम अपने पिछले संचित अनुभवों, संस्कारों के कारण ही पढ़ रहे होते हैं। बाज़ार में चलते हुए हम एक मित्र को देखते हैं। उस समय हम यह नहीं कहते कि उसका चेहरा हमें स्मरण हो आया। हम उसे पिछले संचित संस्कारों के कारण ही एकदम पहचान जाते हैं। एक व्यक्ति को कुछ शब्द याद करने को कहा जाता है। अगले दिन वह उन सबको भूल जाता है, परंतु दुबारा याद करने को कहा जाय, तो पहले की अपेक्षा जल्दी याद कर लेता है। यद्यपि वह सब शब्द भूल गया था, तो भी जो संस्कार बच रहे थे उनके कारण अब वह जल्दी याद कर लेता है। ये सब स्मृति के नहीं, 'नेमे' के दृष्टांत हैं। 'स्मृति' संकुचित शब्द है, 'नेमे' विस्तृत है ; 'स्मृति' (Memory) 'नेमे' (Mnemė) का ही एक रूप है। प्रत्येक अनुभव अपने पीछे मस्तिष्क में कुछ 'संस्कार' छोड़ जाता है। ये संस्कार हमारे आगामी आनेवाले अनुभवों को बदलते रहते हैं। इन 'संस्कारों' के लिये पर्सी नन ने 'एनग्राम' (Engram)-शब्द का प्रयोग किया है। प्राणी के मन की 'संचय-शक्ति' 'नेमे' है, और अनुभव से जो 'संस्कार' पड़ते हैं वे 'एनग्राम' हैं। यंत्र में तथा प्राणी में यह पहला भेद है। यंत्र में 'संस्कार' नहीं पड़ते, 'संचय-शक्ति' नहीं होती ; प्राणी में 'संस्कार' पड़ते हैं, 'संचय-शक्ति' होती है।

(ख). प्राणी का दूसरा गुण जिसे व्यवहारवादियों को छोड़कर प्रायः सब मानते हैं, उसका सप्रयोजन होना है। प्राणी संस्कारों का संचय ही नहीं करता, परंतु साथ ही किसी

'प्रयोजन' (Purpose) से काम करता है। कोई जीवनी-शक्ति, कोई जीवन की 'प्रेरणा' (Urge) उसकी 'ज्ञात' अथवा 'अज्ञात' चेतना में बैठी हुई उसका संचालन कर रही होती है। इसे प्राणी के मन की 'सप्रयोजन-क्रियाशीलता' कहा जा सकता है। पर्सी नन ने प्राणी की इस 'प्रेरणा-शक्ति' को 'होर्म' (Horme) का नाम दिया है। एक ख़ास तरह की मक्खी अपने शिकार को बेहोश कर देती है, और उसे बिना मारे, अपने बच्चों के भोजन के लिये ले आती है। अगर वह उसे मार दे, तो उसके बच्चे ताज़ा ख़ून नहीं पी सकते। मक्खी के मन में चाहे सारी लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया न हो रही हो, परंतु उसकी क्रिया सप्रयोजन है, निष्प्रयोजन नहीं। 'प्रयोजन' अपने को साफ़ तौर पर तो उच्च प्राणियों में ही प्रकट करता है, परंतु 'प्रयोजन' है सब जगह। प्राणियों में हो रही इसी 'सप्रयोजन प्रक्रिया' को 'होर्म' कहा जाता है।

(ग). मानसिक जीवन का तीसरा पहलू 'संबंध' (Cohesion) का है। अगर प्राणी की प्रत्येक क्रिया सप्रयोजन है, तो उसमें पड़े हुए 'संस्कार' (Engrams) अलग-अलग, असंबद्ध नहीं पड़े रह सकते। वे जुड़ते रहते हैं, संबद्ध होते रहते हैं। हम पहले लिख चुके हैं कि १६वीं सदी में मनोविज्ञान में 'प्रत्यय-संबंधवाद' (Association of Ideas) माना जाता था। 'प्रत्ययों' (Ideas) के मन में जुड़ते रहने के सिद्धांत को मानने के स्थान पर यह मानना अधिक युक्तियुक्त है कि प्रत्ययों के

'संस्कार' (Engrams) आपस में जुड़ते रहते हैं, क्योंकि अनुभव हो चुकने के बाद 'प्रत्यय' मन में नहीं रहते, उनकी स्मृति, उनके 'संस्कार' (Engrams) मन में रह जाते हैं। ये संस्कार क्रियाशील होते हैं। ज्यों-ज्यों इस प्रकार के संस्कार बढ़ते जाते हैं, वे दूसरों से मिलकर 'संस्कारों का जाल' (Engram Complexes) बना देते हैं और प्राणी में क्रियाशीलता का मानसिक आधार तैयार हो जाता है।

प्राणी की प्रत्येक क्रिया में, उसके प्रत्येक व्यवहार में मूलभूत, आधार शक्तियाँ तो यही तीन हैं, अन्य शक्तियाँ इन्हीं का विकास हैं।

२. प्राकृतिक शक्तियाँ (Instincts)

हमने अभी कहा कि प्राणी में 'संचय', 'उद्देश्य' तथा 'संस्कार-संबंध' पाया जाता है। ये मन के सामान्य गुण हैं, उसकी आधारभूत प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। इन्हीं के आधार पर विकास की प्रक्रिया में से गुजरते-गुजरते प्राणी में अन्य कई शक्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिन्हें हम 'प्राकृतिक शक्तियों' के नाम से पुकारते हैं। सृष्टि के प्रारंभ में कोई समय रहा होगा जब वे 'प्राकृतिक शक्तियाँ' जिन्हें अब किसी को सीखना नहीं पड़ता प्रकट नहीं हुई होंगी। प्राणी की आवश्यकताओं के अनुसार नए-नए व्यवहार उत्पन्न हुए होंगे, वे किसी 'प्रयोजन' को, किसी 'होर्मे' को पूरा करते रहे होंगे, वे प्राणी की 'संचय-शक्ति', 'नेमे' के कारण उसमें संगृहीत होते रहे होंगे, प्राणी के मस्तिष्क की

'संबंध-शक्ति' के कारण वे मिल-जुलकर किन्हीं ख़ास-ख़ास व्यवहारों को उत्पन्न करते होंगे। प्रत्येक प्राणी अपनी संतति को 'वंशानुसंक्रमण' के नियमानुसार अपनी संगृहीत शक्तियों को देता रहा होगा, और होते-होते आज वे शक्तियाँ वसीयत के तौर पर प्रत्येक प्राणी को मिल रही हैं। उक्त तीन प्रकार की शक्तियों से आज कई 'प्राकृतिक शक्तियाँ' (Instincts) उत्पन्न हो गई हैं। बच्चा रोता है, उसे रोना सीखने के लिये किसी के पास जाना नहीं पड़ता। वह माँ का दूध चुसकता है, यह क्रिया भी वह किसी से नहीं सीखता। ये संस्कार, ये शक्तियाँ किसी सुदूरवर्ती भूत में, कितनी ही नस्लों में, बच्चे के पूर्वजों ने प्राप्त की होंगी, परंतु आज वे उसे वंशपरंपरा से मिल गई हैं, उन्हें सीखने के लिये उसे मेहनत नहीं करनी पड़ती। उसका रोना, दूध चुसकना सदियों के संस्कारों का परिणाम है; उनमें प्रयोजन भी है; परंतु उन्हें बच्चे ने सीखा नहीं होता। 'प्राकृतिक शक्ति एक ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा बिना पूर्व शिक्षा के इस प्रकार काम किया जाता है कि कोई नियत परिणाम निकले।' पशु 'आत्म-रक्षा' करता है; 'संतानोत्पत्ति' करता है। 'आत्म-रक्षा' के लिये मुर्गी का बच्चा अपने भोजन को ऐसे ही ढूँढ लेता है जैसे उसकी माँ, उसे किसी शिक्षा की जरूरत नहीं होती। शेर को भूख लगती है, वह जंगल में निकल जाता है, जो शिकार दिखाई देता है, उसी पर झपट पड़ता है। भोजन के अतिरिक्त 'आत्म-रक्षा' का दूसरा

साधन आश्रय-स्थान है। पक्षी घोंसला बनाता है। जब वह घोंसला बनते हुए देख सकता था तब वह अंडे के रूप में था, अब नया घोंसला देख सकने से पहले वह स्वयं अंडा दे देता है, और अपने बच्चों के लिये घोंसला तैयार कर देता है। जानवरों के आपस में प्रेम करने के अपने तरीक़े हैं, वे उन्होंने किसी से नहीं सीखे होते। बिना सिखाए इस प्रकार की शक्ति का जन्म से ही प्राणी में होना 'प्राकृतिक शक्ति' कहाता है।

३. 'सहज-क्रिया' (Reflex Action)

परंतु कई लोगों का कहना है कि 'प्राकृतिक शक्तियाँ' (Instincts) 'सहज क्रियाओं' (Reflex Actions) के सिवा कुछ नहीं। व्यवहारवादी 'प्राकृतिक शक्तियों' को नहीं मानते, वे इन्हें 'सहज-क्रिया' कहते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर सहज-क्रिया को 'साधारण सहज-क्रिया' (Simple Reflex Action) तथा प्राकृतिक शक्ति को 'विषम सहज-क्रिया' (Complex Reflex Action) मानता था। यह समझने के लिये कि क्या 'प्राकृतिक शक्तियाँ' 'सहज-क्रिया' ही हैं अथवा उनकी स्वतंत्र सत्ता है, 'सहज-क्रिया' किसे कहते हैं, यह समझना ज़रूरी है।

'सहज-क्रिया' दो प्रकार की होती है। हृदय गति कर रहा है, श्वास चल रहा है, आँतें भोजन पचा रही हैं। यह सब आप-से-आप हो रहा है। ये ऐसी सहज-क्रियाएँ हैं जिनका हमें ज्ञान नहीं होता। इनके अतिरिक्त कई ऐसी सहज-क्रियाएँ हैं, जिनका हमें कुछ-कुछ ज्ञान होता है। हमारी आँख झपकती है, गुदगुदाने

पर हम सिमिट जाते हैं, काँटा चुभने पर पाँव खींच लेते हैं। ये ऐसी सहज-क्रियाएँ हैं जिनमें कुछ-कुछ, यद्यपि बहुत थोड़ा, ज्ञान रहता है। एक ख़ास प्रकार के 'विषय' (Stimulus) के उपस्थित होने पर एक ख़ास प्रकार की 'निश्चित प्रतिक्रिया' (Fixed Response) का होना 'सहज-क्रिया' कहाता है। हम यह दर्शाएँगे कि यद्यपि 'प्राकृतिक क्रिया' में भी प्राणी के सम्मुख एक ख़ास प्रकार के विषय के उपस्थित होने पर एक ख़ास प्रकार की निश्चित प्रतिक्रिया होती है, तो भी 'प्राकृतिक क्रिया' तथा 'सहज-क्रिया' में भेद है।

४. 'प्राकृतिक क्रिया' तथा 'सहज-क्रिया' में भेद

दूसरे अध्याय में हमने देखा था कि डेकार्टे पशुओं की क्रियाओं को यांत्रिक मानता था, हॉब्स मनुष्य की क्रियाओं को भी यांत्रिक कहता था। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिस प्रकार यंत्र में क्रिया होती है, इसी प्रकार पशु तथा मनुष्य में भी होती है। इस दृष्टि से 'सहज-क्रिया' तथा 'स्वाभाविक क्रिया' में कोई भेद नहीं रहता। परंतु ज़रा गहराई से देखा जाय, तो 'यांत्रिक क्रिया' 'सहज-क्रिया' तथा 'प्राकृतिक क्रिया' तीनो में भेद है। 'हौर्म' अर्थात् प्रयोजन, तो तीनो में दिखाई देता है, परंतु उस प्रयोजन के प्रकार में बहुत बड़ा भेद है। 'यांत्रिक क्रिया' में प्रयोजन यंत्र का नहीं होता, किसी दूसरे का होता है; भीतर का नहीं होता, बाहर का होता है। हम गेंद फेंकते हैं, गेंद एक प्रयोजन से जा रही है, परंतु वह

'अपने' प्रयोजन को पूरा नहीं कर रही होती, 'हमारे' प्रयोजन को पूरा कर रही होती है। 'सहज-क्रिया' में प्रयोजन केवल जीवन-रक्षा-संबंधी (Biological) होता है। यह प्रयोजन बाहर का तो नहीं, भीतर का होता है, परंतु भीतर का होते हुए भी प्राणी को उस प्रयोजन का पता नहीं होता। बच्चा गुदगुदाने पर सिमिट जाता है, परंतु उसे 'क्यों' का पता नहीं होता, उसकी इस क्रिया में उसका शरीर ही काम कर रहा होता है, मन काम नहीं कर रहा होता। 'प्राकृतिक क्रिया' में प्रयोजन भीतर का होता है, वह जीवन-रक्षा-संबंधी भी होता है, परंतु इन दोनो के साथ इसमें प्राणी को थोड़ा-बहुत 'क्यों' का भी पता होता है, उसके व्यवहार में मानसिक क्रिया भी हो रही होती है। 'यंत्र' की क्रिया शुद्ध यांत्रिक (Mechanical) है; 'सहज-क्रिया' जीवन-रक्षा-संबंधी (Biological) क्रिया है; 'प्राकृतिक क्रिया' जीवन-रक्षा-संबंधी होती हुई भी मानसिक (Psychical) क्रिया है। 'प्राकृतिक क्रिया' में प्राणी के सम्मुख कोई-न-कोई 'निकटवर्ती प्रयोजन' (Immediate Purpose) होता है। यह प्रयोजन 'सहज-क्रिया'-जैसा नहीं होता। बया घोंसला बना रहा है। उसका प्रयोजन अंडे देने पर उन्हें घोंसले में सुरक्षित रखने का है। अभी अंडे हुए भी नहीं, और वह घोंसला बनाने की तैयारी कर रहा है। 'सहज-क्रिया' की अपेक्षा 'प्राकृतिक क्रिया' में 'होर्म' बहुत अधिक दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त 'सहज-क्रिया' साधारण (Simple) होती है, 'प्राकृतिक क्रिया'

विषम (Complex); 'सहज-क्रिया' में शरीर का एक हिस्सा काम कर रहा होता है, 'प्राकृतिक क्रिया' में सारा शरीर किसी प्रयोजन को पूरा कर रहा होता है। काँटा लगा, हमने पाँव हटा लिया। इस क्रिया में कई बातें शामिल नहीं हैं। घोंसला बनाने में पक्षी बार-बार उचित सामग्री को ढूँढने के लिये जाता है, उसे ढूँढता है, लाता है, जोड़ता है। कितनी विषम क्रिया है, और प्राणी का संपूर्ण शरीर उसमें लगा हुआ है। 'सहज-क्रिया' सदा एक-सी रहती है। पाँव में काँटा चुभने पर कोई पाँव उठाए, कोई शिर खुजाए, ऐसा नहीं होता। 'प्राकृतिक क्रिया' में एक ही परिस्थिति में भिन्न-भिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न व्यवहार कर सकते हैं। जंगल में हमारे सम्मुख शेर आ गया। उस समय प्राण-रक्षा के लिये डरकर भागना प्राकृतिक क्रिया है, परंतु कोई भाग जाता है, कोई छिप जाता है, कोई वृक्ष पर चढ़ जाता है, सब एक ही तरह का व्यवहार करें, यह ज़रूरी नहीं है।

५. 'प्राकृतिक क्रिया' की विशेषताएँ

हमने देखा कि 'प्राकृतिक क्रिया' को 'सहज-क्रिया' नहीं कहा जा सकता। अब हम 'प्राकृतिक क्रिया' की विशेषताओं पर विचार करेंगे। 'प्राकृतिक क्रियाओं' की निम्न विशेषताएँ हैं :—

(क). पुराने मनोवैज्ञानिकों का मत था कि 'प्राकृतिक क्रिया' में प्राणी को 'प्रयोजन' (Purpose) की जानकारी नहीं रहती, ये क्रियाएँ 'निष्प्रयोजन' (Purposeless) होती हैं, वे इन क्रियाओं को यांत्रिक समझते थे। परंतु यह बात ठीक नहीं है।

पशु जो कुछ करते हैं उसमें उनका कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य रहता है। इतना ही नहीं, उन्हें उस प्रयोजन का, अपने ही ढंग का ज्ञान भी रहता है। प्रयोजन की सफलता तथा असफलता का भेद भी वे कर सकते हैं। कभी-कभी सफलता पाने के लिये अपने व्यवहार का ढंग भी वे बदलते हैं। यह अवश्य है कि पशुओं को केवल निकटवर्ती प्रयोजन का ज्ञान रहता है, दूरवर्ती का नहीं। घोंसला बनाते हुए चिड़िया के सामने बच्चों की रक्षा का प्रयोजन रहता है, आँधी, ओले पड़ने आदि से क्या आपत्ति आ पड़ेगी, इसका ज्ञान उसके मन में नहीं होता। 'प्रयोजन' का मन में होना ही क्रिया पर ध्यान को केंद्रित करता है।

(ख). 'प्राकृतिक शक्तियाँ' एक ही जाति के सब प्राणियों में एक-सी पाई जाती हैं। ऐसा नहीं होगा कि कुछ 'प्राकृतिक शक्तियाँ' कुछ मनुष्यों में तो पाई जायँ, और कुछ में न पाई जायँ। हाँ, उन शक्तियों के विकास की मात्रा में भेद हो सकता है, शक्तियों के स्वरूप में नहीं। संग्रह करने की प्राकृतिक शक्ति प्रत्येक बालक में पाई जाती है, परंतु कई बालक संग्रह करने के लिये आतुर दिखाई देंगे, कई आतुर न होंगे, परंतु संग्रह सब करेंगे। विकास की मात्रा में यह भेद कई बातों पर निर्भर है। परिस्थिति-भेद के कारण 'प्राकृतिक शक्ति' अपने को भिन्न-भिन्न तौर पर प्रकट करती है। मुर्ग़ी में ज़मीन को कुरेदने की 'प्राकृतिक शक्ति' है, परंतु जो मुर्ग़ी नर्म ज़मीन पर ही रही होगी, वह भला क्यों कुरेदेगी, उसके कुरेदने के आवेग में कमी रहेगी। कभी-कभी

लिंग-भेद के कारण भी 'प्राकृतिक शक्ति' के आवेग में भेद दिखाई देता है। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा शांत होती हैं, लड़के स्वभाव से ज़रा तेज़ होते हैं।

(ग). 'प्राकृतिक व्यवहार' प्रारंभ से ही 'कुशलता' के साथ होने लगते हैं, उन्हें सीखना नहीं पड़ता। शिशु जन्मते ही माँ का दूध चुसकने लगता है ; मुर्गी का बच्चा पंख जमते ही उड़ने लगता है ; बत्तख़ पानी में पड़ते ही तैरने लगती है। यह सब उन-उन प्राणियों की अपनी-अपनी 'प्राकृतिक शक्तियों' के कारण ही है।

(घ). प्राकृतिक व्यवहारों में जन्म से ही कुशलता रहती है, इसका यह अर्थ नहीं कि प्राणी अपने नवीन अनुभव के प्रकाश में उन्हें बदल नहीं सकता। पुराने मनोवैज्ञानिकों का विचार था कि पशुओं में अपने अनुभव से लाभ उठाने तथा अपने व्यवहार को नवीन परिस्थिति के अनुसार बदलने की शक्ति नहीं। परंतु यह बात ठीक नहीं है। घर का पालतू कुत्ता शिष्टता से रोटी माँगना सीख जाता है, वह जंगली कुत्ते की तरह हाथ से रोटी छीनने को नहीं लपकता। चिड़ियाँ अपना चुग्गा ढूँढने ऐसे स्थानों में ही जाती हैं जहाँ वह अधिकता से मिलता है। मनुष्य तो अपने व्यवहार को परिस्थिति के अनुसार बदल ही सकता है, परंतु पशु भी बदल सकते हैं। हाँ, सब पशुओं में यह शक्ति एक-समान नहीं पाई जाती। बड़े जानवरों में यह योग्यता छोटों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है।

मनुष्य में तो अपने प्राकृतिक व्यवहार को अनुभव द्वारा बदलने तथा नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की नैसर्गिक शक्ति है। शिक्षा की दृष्टि से यह बात बड़े महत्त्व की है। शिक्षा का तो काम ही 'प्राकृतिक शक्तियों' को आधार बनाकर, उन्हें पूँजी समझकर, उसमें ऐसा परिवर्तन करना है जिससे वे ही शक्तियाँ अघड़ रूप में न रहकर व्यक्ति तथा समाज के लिये अधिक उपयोगी हो जायँ।

(ङ). 'प्राकृतिक शक्तियाँ' जन्म के समय सब एकसाथ ही नहीं प्रकट हो जातीं। दूध चुसकने की शक्ति बच्चे में जन्मते ही होती है, किंतु चीज़ें जमा करना, अनुकरण करना, साथियों के साथ खेलना आदि शक्तियाँ जन्म से ही नहीं पाई जातीं। इनका विकास जीवन में किन्हीं ख़ास-ख़ास समयों पर होता है। तीन से छः वर्ष की आयु में बालकों में आत्म-भावना (Self-assertive-ness) पैदा हो जाती है। इसे रोका जाय, तो वे ज़िद्दी हो जाते हैं। लिंग-संबंधी ज्ञान युवावस्था से पूर्व प्रकट नहीं होता। कौन-सी शक्ति का किस समय उदय होता है, शिक्षक के लिये यह जानना बड़ा आवश्यक है। शिक्षक का कर्तव्य है कि 'प्राकृतिक शक्ति' के उत्पन्न होने के ठीक समय को जानकर उसका उसी समय उपयोग करे, आगे-पीछे नहीं। बच्चे की अनुकरण करने की शक्ति से हम उसे बहुत-कुछ सिखा सकते हैं, परंतु इस प्रकार सिखाने का प्रयत्न तभी शुरू होना चाहिए जब उसमें यह शक्ति उत्पन्न हो जाय। उससे पहले ऐसा प्रयत्न किया

जायगा, तो बच्चा क़ाबू में नहीं आएगा, और वह शिक्षक से, पाठ से, पढ़ने से, सबसे नफ़रत करने लगेगा।

(च). अभी कहा गया कि 'प्राकृतिक शक्तियों' के विकास का समय नियत रहता है। जेम्स का कथन है कि उदित होने के बाद इनके जीवन की अवधि भी नियत रहती है। किसी शक्ति के उदय होने पर यदि उसका प्रयोग न किया जाय, तो वह नष्ट हो जाती है। जन्म के बाद कुछ दिनों तक यदि बछड़े को थन से दूध न पिलाया जाय, तो वह चुसकना भूल जाता है। इसी प्रकार 'जिज्ञासा', 'संग्रहशीलता' आदि शक्तियाँ कुछ समय तक अपनी तीव्रता दिखाकर नष्ट हो जाती हैं। इसलिये गाना, घोड़े पर चढ़ना, साइकल चलाना आदि नई-नई बातें बचपन में बहुत सुगमता से सीखी जाती हैं। यदि ये बातें बचपन में न सिखाई जायँ, तो फिर आसानी से नहीं आतीं, क्योंकि फिर वह 'प्राकृतिक शक्ति' जिसके आधार पर उक्त काम सीखे जा सकते थे, नष्ट हो चुकी होती है। थॉर्नडाइक जेम्स के इस सिद्धांत को नहीं मानता। थॉर्नडाइक कहता है कि 'स्वाभाविक शक्ति' कभी नष्ट नहीं होती। वह प्रकट होकर कुछ समय तक अपनी तीव्रता दिखाती है, फिर वह इस्तेमाल न करने से मध्यम पड़ जाती है, नष्ट नहीं होती। कभी-कभी दूसरे रूपों में वह जीवन-भर अपने को प्रकट करती रहती है, स्थिति-भेद से उसका रूपांतर हो जाता है। उदाहरणार्थ, 'जिज्ञासा' मनुष्य में केवल बचपन में ही नहीं, जीवन-पर्यंत बनी रहती है। नए-नए क्षेत्रों में कार्य

करने, नई-नई चीज़ों को देखने, नवीन अविष्कारों को करने की प्रबल इच्छा बचपन की 'जिज्ञासा' का ही दूसरा रूप है। बड़े-बड़े पुस्तकालय तथा संग्रहालय बनाने की इच्छा बचपन की संग्रह करने की प्राकृतिक शक्ति का ही रूप है। थॉर्नडाइक ने जेम्स के 'प्राकृतिक शक्तियों के अल्पस्थायी' (Transitoriness of Instincts) होने के सिद्धांत का खंडन किया है, परंतु जेम्स के सिद्धांत में भी सत्य की कम मात्रा नहीं है। यदि प्राकृतिक शक्तियाँ कुछ दिनों के बाद बिल्कुल नष्ट नहीं हो जातीं, तो भी यह तो मानना पड़ेगा कि उनका प्राबल्य, उनकी तीव्रता अंत तक वैसी नहीं बनी रहती। हरएक 'प्राकृतिक शक्ति' में कुछ समय के लिये तीव्रता आती है। शिक्षक का कर्तव्य प्राकृतिक शक्ति की तीव्रता की इस लहर से लाभ उठाना है। बालक में 'जिज्ञासा' अपने शिखर पर पहुँची हुई है। उसके सामने गंदी परिस्थिति उपस्थित कर दी जाय, तो वह गंदी-गंदी बातों को जान जायगा। इसके विपरीत उसे छोटे-छोटे यंत्रों से, मोटर, साइकिल, हवाई जहाज़ के खिलौनों से घेर दिया जाय, वह इनकी जिज्ञासा करने लगेगा। वह तो नई बातें जानने के लिये उतावला है, उसे जिस परिस्थिति से घेर दिया जायगा, वह उसकी छान-बीन करने लगेगा, परंतु उसकी यह उग्र-शक्ति सदा नहीं बनी रहेगी।

६. 'प्राकृतिक शक्ति' तथा 'उद्वेग'

वर्तमान समय में सबसे पहले मैग्डूगल ने 'प्राकृतिक शक्तियों' की तरफ़ मनोवैज्ञानिकों का ध्यान खींचा। मैग्डूगल का यह भी

कहना है कि जब कोई 'प्राकृतिक शक्ति' हमारे अंदर काम कर रही होती है, तो उसके साथ कोई-न-कोई 'उद्वेग' (Emotion) भी जुड़ा रहता है। जंगल में एक प्राणी शेर को देखकर जान बचाने के लिये भागता है। यहाँ जान बचाने के लिये भागना 'प्राकृतिक व्यवहार' (Instinctive Behavior) है। इस 'प्राकृतिक व्यवहार' के साथ 'भय' का 'उद्वेग' (Emotion of Fear) जुड़ा रहता है। हम लड़ रहे हैं, 'लड़ना' 'प्राकृतिक व्यवहार' है, उसके साथ 'क्रोध' का 'उद्वेग' जुड़ा रहता है। हमें 'जिज्ञासा' है, उसके साथ 'आश्चर्य' जुड़ा रहता है। भय है, तभी तो भागते हैं; क्रोध है, तभी तो लड़ते हैं; आश्चर्य है, तभी तो किसी बात को जानना चाहते हैं। 'प्राकृतिक व्यवहार' के लिये 'उद्वेग' का होना ज़रूरी है; 'उद्वेग' न हो तो 'प्राकृतिक व्यवहार' भी न हो। मैग्डूगल के इस मत का ड्रेवर तथा रिवर ने विरोध किया है। उनका कथन है कि 'प्राकृतिक व्यवहार' को उत्पन्न करने के लिये 'उद्वेग' की ज़रूरत नहीं। 'प्राकृतिक व्यवहार' तो आप-से-आप होता है, परंतु जब उसके पूर्ण होने में रुकावट पड़ती है, तब 'उद्वेग' उत्पन्न होता है। मनुष्य जंगल में शेर को देखकर भागने लगता है। जब तक उसके मार्ग में रुकावट नहीं आती, वह भागता जाता है, जब भागते-भागते सामने रुकावट पड़ जाय, और वह अपने बच निकलने का कोई उपाय न देख सके, तब एकदम 'भय' का 'उद्वेग' उत्पन्न हो जाता है। पहले तो भागने की क्रिया में वह इतना लगा हुआ था

कि 'भय' के 'उद्वेग' को प्रकट होने की कोई गुंजाइश ही नहीं थी, अब जब कि उसकी गति अवरुद्ध होती है, एकदम भय उत्पन्न हो जाता है। ड्रेवर के इस सिद्धांत को 'अवरोध का सिद्धांत' (Baulking Theory) कहते हैं। 'अवरोध के सिद्धांत' का शिक्षा की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। बालक के 'प्राकृतिक व्यवहार' में शिक्षक की तरफ़ से कभी-कभी ऐसी रुकावट आ पड़ती है कि उसका मन क्षुब्ध हो जाता है, वह क्रोध, निराशा अथवा इसी प्रकार के किसी 'उद्वेग' से विचलित हो उठता है। यह अवस्था शिक्षा ग्रहण करने के अनुकूल नहीं है, इसलिये शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक में ऐसी अवस्था न उत्पन्न होने दे।

७. 'प्राकृतिक शक्तियों' का वर्गीकरण

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने 'प्राकृतिक शक्तियों' का भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किया है। हम यहाँ पर कर्कपैट्रिक, थॉर्नडाइक तथा मैग्डूगल का वर्गीकरण देंगे।

(क). कर्कपैट्रिक ने 'प्राकृतिक शक्तियों' को पाँच भागों में बाँटा है। दूसरे भेद इन्हीं के अवांतर किए हैं। वे पाँच निम्न हैं :—

१. आत्मरक्षा (Self-preservative Instinct)

२. संतानोत्पत्ति (Reproductive Instinct)

३. सामूहिक जीवन (Gregarious Instinct)

४. परिस्थिति के अनुकूल जीवन बनाना (Adaptive Instinct)

५. धार्मिक आदर्शों के अनुकूल जीवन बनाना (Regulative Inst.)

(ख). थॉर्नडाइक 'प्राकृतिक शक्तियों' को दो भागों में बाँटता है—'वैयक्तिक' तथा 'सामाजिक'। वैयक्तिक में भोजन प्राप्त करना, आत्मरक्षा करना, आश्रय ढूँढना आदि आ जाता है; सामाजिक में संतानोत्पत्ति, सामूहिक जीवन आदि आ जाते हैं।

(ग). मैग्डूगल मानसिक शक्तियों के दो हिस्से करता है: 'प्राकृतिक शक्तियाँ' (Instincts) तथा 'सामान्य प्रवृत्तियाँ' (General Tendencies)। 'प्राकृतिक शक्तियों' के साथ 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है; 'सामान्य प्रवृत्तियों' के साथ नहीं। 'सामान्य प्रवृत्तियों' को वह 'प्राकृतिक शक्तियों' में नहीं गिनता, क्योंकि उनके साथ 'उद्वेग' नहीं रहता। 'प्राकृतिक शक्तियों' तथा उनके 'उद्वेगों' का मैग्डूगल ने निम्न वर्गीकरण किया है:—

'प्राकृतिक शक्ति'	उसके साथ संबद्ध 'उद्वेग'
पलायन-Escape	**भय**-Fear
युयुत्सा-Combat	**क्रोध**-Anger
निवृत्ति-Repulsion	**घृणा**-Disgust
पुत्रकामना-Parental	**दया**-Tender Emotion
संवेदना-Appeal	**दुःख**-Distress
भोग-Mating	**काम**-Lust
जिज्ञासा-Curiosity	**आश्चर्य**-Wonder
दैन्य-Submission	**आत्महीनता**-Negative self-feeling
आत्मगौरव-Self-assertion	**आत्माभिमान**-Positive self-feeling

सामूहिक जीवन-Gregariousness	एकाकी भाव-Loneliness
भोजनान्वेषण-Foodseeking	तृप्ति-Gusto
संचय-Acquisition	स्वत्व-Ownership
विधायकता-Constructive	कृतिभाव-Creativeness
हास-Laughter	आमोद-Amusement

'प्राकृतिक शक्तियों' के अलावा मैग्डूगल कुछ 'सामान्य प्रवृत्तियाँ' (General Tendencies) भी मानता है, जिनके साथ 'उद्वेग' नहीं जुड़ा रहता। इनका वर्गीकरण उसने निम्न प्रकार से किया है :—

१. संकेत (Suggestion)

२. सहानुभूति (Sympathy)

३. अनुकरण (Imitation)

४. खेल (Play)

हम मुख्य-मुख्य 'प्राकृतिक शक्तियों' (Chief Instincts) तथा 'सामान्य प्रवृत्तियों' (General Tendencies) का वर्णन अगले अध्याय में करेंगे।

८. प्राकृतिक शक्तियों की शिक्षा में उपयोगिता

'प्राकृतिक शक्तियों' की शिक्षा की दृष्टि से बड़ी भारी उपयोगिता है, हम उसी का संक्षेप से निर्देश करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

(क). जैसे घड़ा बनाने के लिये कुम्हार को मट्टी की ज़रूरत होती है, वैसे शिक्षक को, बालक को शिक्षा देने के लिये उसकी

'प्राकृतिक शक्तियों' तथा 'प्रवृत्तियों' की आवश्यकता है। ये शक्तियाँ ही व्यवहार का स्रोत हैं, व्यवहार को बदलने अथवा सुधारने के लिये शिक्षक को इन्हीं से चलना होता है। ज्ञात से अज्ञात की तरफ़ जाना ही आसान रास्ता है। 'प्राकृतिक शक्तियाँ' ज्ञात हैं, इन्हीं से बालक की अज्ञात मानसिक रचना को बनाया जाता है। घोड़े को पानी के सामने ला खड़ा करने से तो वह पानी नहीं पीने लगेगा, पानी पीने के लिये घोड़े को प्यास लगी होनी चाहिए। इसी प्रकार स्कूल में भर्ती कर देने मात्र से बालक नहीं सीख जायगा। सीखने के लिये बालक के अंदर ही प्यास होनी चाहिए। वह प्यास प्रत्येक बालक के अंदर 'प्राकृतिक शक्ति' के रूप में मौजूद होती है। शिक्षक का काम उसी का लाभ उठाना है। बालक की 'प्राकृतिक शक्तियाँ' शिक्षक के लिये प्रारंभिक पूँजी हैं, जिनसे उसे व्यापार करना होता है।

(ख). इन 'प्राकृतिक शक्तियों' से लाभ उठाने का सब से अच्छा समय उनका प्राबल्य-काल है। अनुकरण, खेल, जिज्ञासा, संग्रह आदि शक्तियों के बालक के जीवन में प्रकट होने का अपना-अपना समय है, और अपने-अपने समय में ही ये शक्तियाँ उसमें तीव्र वेग धारण कर लेती हैं। जिस समय कोई लहर अपने उच्चतम शिखर पर हो, उसी समय उसे पकड़ लेना शिक्षक का काम है। इस प्रकार नई बात आसानी से सिखाई जा सकती है और शिक्षा को सरल, रुचिकर तथा प्रिय बनाया जा सकता है। इस प्रकार चलने से शिक्षक का काम बालक के सम्मुख

उचित परिस्थिति उपस्थित कर देता है, अगला काम तो बालक अपने-आप कर डालता है।

(ग). 'प्राकृतिक शक्तियों' के उचित प्रयोग से जहाँ कोई नई बात सिखाई जा सकती है, वहाँ 'आदतों' को बनाने में भी इनका उपयोग किया जा सकता है। आदतों का जीवन में इतना महत्त्व है कि जेम्स ने चरित्र को ख़ास प्रकार की आदतों का ही समूह कहा है। जिन आदतों का आधार स्वाभाविक शक्तियों पर बनाया जाता है वे आसानी से पड़ जाती हैं, और चिरस्थायी रहती हैं। आदतों की तरह चरित्र-निर्माण में भी प्राकृतिक शक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है।

(घ). 'प्राकृतिक-शक्तियों' का प्रारंभिक शुद्ध रूप बेढंगा और बेतुका होता है। उस अवस्था में वे न अच्छी कही जा सकती हैं, न बुरी, परंतु परिस्थिति के कारण कभी-कभी वे बुरा रूप धारण कर सकती हैं। शिक्षक लोग इस बात से डरकर कि कहीं 'प्राकृतिक शक्ति' बुरा रूप न धारण कर ले, उसे दबाने का प्रयत्न करने लगते हैं। बच्चे में 'जिज्ञासा' है, वह अच्छी बात के विषय में भी पूछता है, बुरी के विषय में भी। क्योंकि कभी-कभी वह बुरी के विषय में भी पूछ बैठता है, इसलिये कई माता-पिता उसकी प्रश्न करने की प्रवृत्ति को ही दबाने लगते हैं, उसे हरएक प्रश्न पर झिड़कने लगते हैं। इस प्रकार उसकी प्राकृतिक शक्ति दब थोड़े ही सकती है। वह अन्य उपायों से जिज्ञासा को पूर्ण करने लगता है। बुद्धिमान् माता-पिता तथा शिक्षक का कर्तव्य

है कि जो 'जिज्ञासा' की प्राकृतिक शक्ति बालक में बेढंगी, बेतुकी और निष्प्रयोजन-सी पाई जाती है, उसे उचित मार्ग में से निकलने दें, उसे दबाएँ नहीं, अपितु रूपांतरित (Sublimate) करें। शिक्षक चतुर हो, तो थोड़े ही प्रयत्न से बालक की हरएक अघढ़ प्राकृतिक शक्ति को किसी ऊँची दिशा में फेर सकता है। एक चतुर शिक्षक जिज्ञासु बालक को बड़ा भारी विज्ञान का पंडित बना सकता है, डरपोक बालक को ईश्वर-भक्त बना सकता है, झगड़ालू बालक को स्वाभिमानी तथा निर्भय बना सकता है। विज्ञान के पंडित में जिज्ञासा ही रूपांतरित हो गई है, ईश्वर-भक्त में भय रूपांतरित हो गया है, स्वाभिमानी व्यक्ति में झगड़ालूपन रूपांतरित हो गया है।

षष्ठ अध्याय

'प्राकृतिक शक्तियाँ' तथा 'स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ'

पहले मनोविज्ञान के पंडित मनुष्य में प्राकृतिक शक्तियों की सत्ता को नहीं मानते थे, इन्हें पशुओं में ही मानते थे, परंतु अब वे मनुष्य में भी इन शक्तियों को मानने लगे हैं। मनोवैज्ञानिकों का इस दिशा में ध्यान खींचने का श्रेय मैग्डूगल को है। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि मैग्डूगल 'प्राकृतिक शक्तियों' तथा 'स्वाभाविक प्रवृत्तियों' में भेद करता है। उसके अनुसार 'प्राकृतिक शक्तियाँ' चौदह हैं, और 'स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ' चार हैं। 'प्राकृतिक शक्तियों' के साथ कोई-न-कोई 'उद्वेग' जुड़ा रहता है; 'स्वाभाविक प्रवृत्तियों' के साथ 'उद्वेग' नहीं रहता। इसके अतिरिक्त 'स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ' 'प्राकृतिक शक्तियों' की अपेक्षा अधिक व्यापक होती हैं। एक बच्चा बैठा घर बना रहा है, उसे देखकर दूसरे भी बनाने लगते हैं। यहाँ पर घर बनाना 'विधायक शक्ति' (Constructiveness) का परिणाम है, जो 'प्राकृतिक शक्ति' है, परंतु इसमें 'अनुकरण की प्रवृत्ति' (Tendency of Imitation) सहायक सिद्ध हो रही है, यह 'स्वाभाविक प्रवृत्ति' है। एक बालक पुस्तक उठाकर उसके चित्र देखने लगता है, उसे देखकर दूसरे भी चित्र देखने आ बैठते

हैं। यहाँ पर पहले बच्चे का चित्र देखना 'जिज्ञासा' की 'प्राकृतिक शक्ति' है, इसमें दूसरों का चित्र देखने में शामिल हो जाना 'अनुकरण' की 'स्वाभाविक प्रवृत्ति' है। अनुकरण की प्रवृत्ति विधायकता तथा जिज्ञासा दोनो में शामिल है, उन दोनो की अपेक्षा यह अधिक व्यापक है। हम इस अध्याय में पहले शिक्षा की दृष्टि से उपयोगी कुछ 'प्राकृतिक शक्तियों' का तथा फिर 'स्वाभाविक प्रवृत्तियों' का क्रमशः वर्णन करेंगे।

प्राकृतिक शक्तियाँ

१. 'पलायन' (Escape)

मैग्डूगल भय को 'उद्वेग' कहता है, भय के कारण भागने को 'प्राकृतिक शक्ति' कहता है। बालक बिजली की कड़क सुनकर मकान के अंदर भाग जाता है; अगर माँ के साथ बिस्तर पर लेट रहा है, तो कड़क सुनकर माँ से चिपट जाता है; अगर इकला पड़ा है, तो रज़ाई में छिप जाता है। ये सब पलायन के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।

भय उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं। परिस्थिति में अचानक परिवर्तन हो जाना, जैसे, बिजली कड़कना, दरवाज़े का ज़ोर से खटकना, बादल का गर्जना, किसी अजीब जानवर का सामने आ जाना बालक में भय पैदा कर देते हैं। अँधेरा शुरू-शुरू में भय का कारण नहीं होता, परंतु ज्यों-ज्यों बालक में कल्पना शक्ति उत्पन्न होती जाती है, वह भय का कारण बनती जाती है। भूत-प्रेत का भय भी कल्पना-शक्ति के कारण है। कई भय सहचार

के कारण उत्पन्न हो जाते हैं, इन्हें 'संबद्ध-भय' (Conditioned fear) कहते हैं। जब-जब चूहा सामने आए तब-तब अगर ज़ोर से आवाज़ की जाय, तो बालक चूहे से डरने लगता है। चूहा डरने की चीज़ नहीं है, परंतु चूहे के सामने आते ही डरावनी आवाज़ होती है, उस आवाज़ का डर चूहे के साथ संबद्ध हो जाता है। 'संबद्ध-भय' को दूर करने का यही तरीक़ा है कि उसे असंबद्ध कर दिया जाय। चूहे को देखकर बच्चा डरता है; उसे किसीको चूहे के साथ खेलते हुए दिखा दिया जाय। इसे 'पूर्ववत् करण' (Reconditioning) कहते हैं, इसमें चूहे तथा भय के संबद्ध होने से पहले की अवस्था बालक के मन में जमा दी जाती है।

'भय' की शिक्षा में बड़ी उपयोगिता है। बालक शिक्षक से भय खाता है। वह डरता है कि उसने कुछ अनुचित किया, तो मार पड़ेगी। बालक में अच्छी आदत डालने के लिये भय का उपयोग किया जा सकता है। जिन बालकों में भय नहीं रहता, वे बेक़ाबू हो जाते हैं। परंतु डरा-धमकाकर काम कराना शिक्षा की दृष्टि से अच्छा नहीं समझा जाता, क्योंकि इस साधन का लगातार प्रयोग करने से बालक के हृदय में शिक्षक के प्रति घृणा भी उत्पन्न हो सकती है। शिक्षक का कर्तव्य है कि भय की भावना को रूपांतरित (Sublimate) कर दे। पहले बालक शिक्षक के दंड देने से डरता है, फिर वह शिक्षक की अपने विषय में बुरी सम्मति से डरने लगे, कोई बुरा काम इसलिये न करे

क्योंकि उसे शिक्षक का भय नहीं, किंतु अंतरात्मा के धिक्कार का भय है।

२. 'जिज्ञासा' (Curiosity)

'जिज्ञासा' प्राकृतिक शक्ति है। इसके साथ 'आश्चर्य' का उद्वेग लगा रहता है। प्लेटो का कथन है कि 'जिज्ञासा' ही संपूर्ण ज्ञान की जननी है। बालक एकदम इस विशाल विश्व में आ टपकता है। वह क्या करे ? हरएक चीज़ को वह आश्चर्य से देखने लगता है, जिस चीज़ को देखता है, उसी के पीछेभाग पड़ता है। मानो प्रत्येक चीज़ को उठा-उठाकर जान लेना चाहता है कि यह क्या है ? इस शक्ति के द्वारा वह थोड़े ही दिनों में अपनी बहुत-सी परिस्थिति से परिचय प्राप्त कर लेता है।

शुरू-शुरू में तीव्र उत्तेजना के पदार्थ उसका ध्यान जल्दी आकर्षित करते हैं। चमकीली चीज़, ज़ोर की आवाज़, भड़कीला रंग, तेज़ गतिवाली वस्तु उसे एकदम खींच लेते हैं। मोटर की आवाज़ आई नहीं कि बच्चे उसे देखने के लिये झट-से मकान से बाहर दौड़ पड़ते हैं। वह चमकीली भी है, आवाज़ भी करती है, तेज़ भी दौड़ती है ; उनके आकर्षण का केंद्र बन जाती है। आरंभ में शिक्षा में इसी प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए। आजकल वस्तुपाठ आदि विषयों का पाठ-विधियों में समावेश है। इसमें बालक वस्तुओं को छूता है, उठाता है, उलट-पलटकर देखता है, उन्हें जोड़ता है, तोड़ता है, और इस प्रकार उनके विषय में बहुत कुछ सीख जाता है।

बच्चों की प्रारंभिक जिज्ञासा में चुनाव नहीं होता, जो चीज़ उनका ध्यान खींचती है, उसी को देखने लगते हैं। देखते-देखते कई चीज़ों में उनकी 'रुचि' (Interest) हो जाती है। जिन चीज़ों में उनकी 'रुचि' हो जाती है, उनका अपने-आप चुनाव हो जाता है, बाक़ी को बालक छोड़ देते हैं। रुचि 'अवधान' (Attention) का कारण है, और अवधान नई बातों के 'सीखने' (Learning) में सहायक है। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह वस्तुओं को बालक के सम्मुख इस प्रकार उपस्थित करे जिससे बालक कौतूहल से उनकी तरफ़ खिंचे, उसकी उनमें रुचि उत्पन्न हो जाय, वह उनकी तरफ़ ध्यान दे और बहुत कुछ सीख जाय।

बच्चा एक खिलौने को देख रहा है। कुछ देर तक वह देखता रहता है। उसके बाद दूसरे खिलौने को देखकर वह पहले को फेंक देता है, दूसरे को ले लेता है। पहले से वह कुछ-कुछ परिचित हो चुका है, दूसरे के विषय में वह कुछ नहीं जानता, इसलिये वह झट-से दूसरे की तरफ़ हाथ बढ़ाता है। परंतु अगर अंत तक जिज्ञासा का प्रवाह इसी प्रकार चलता रहे, तो वह निरुद्देश्य जिज्ञासा हो जाती है। शिक्षक का कर्तव्य है कि जिज्ञासा को सोद्देश्य बनाए, और उसे नई-नई बातों के सीखने की दिशा में रूपांतरित कर दे। जिस पत्थर को बालक फेंक देता है, उसका भूगर्भ-शास्त्री वर्षों तक अध्ययन करता रहता है। शिक्षक का काम जिज्ञासा को इसी प्रकार के किसी साँचे में ढाल देना है।

जिज्ञासा अपरिचित विषय के प्रति होती है, परंतु अगर वह विषय बहुत अधिक अपरिचित है, तब तो उससे भय उत्पन्न होने लगता है। बिलकुल अजनबी चीज़ों से बच्चा डरता है। इसलिये जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिये कुछ परिचित तथा कुछ अपरिचित दोनो आवश्यक हैं। पढ़ाते हुए शिक्षक को न तो बिलकुल नई बात पढ़ानी शुरू कर देनी चाहिए, न ऐसी ही बातें समझाने लगना चाहिए जिनसे बालक खूब अच्छी तरह से परिचित हैं। बिलकुल नई बातों को वे समझेंगे नहीं, बिलकुल पुरानी बातों को वे सुनेंगे नहीं। इसलिये शिक्षक को पढ़ाते हुए तीन बातों का ख़याल रखना चाहिए—(क) इस विषय में बालक पहले से क्या जानते हैं, (ख) नियत समय में कितनी नई बात उन्हें बताई जा सकती है, (ग) नई को पुरानी से किस प्रकार जोड़ा जा सकता है। शिक्षा में 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ़ जाने का यही मतलब है। बालक में जिज्ञासा है, परंतु जो पदार्थ उसके सामने है, उसी के साथ किसी तरह का संबंध जोड़कर नई बात उसे सिखाई जा सकती है। हर्बार्ट ने जिज्ञासा के इस मनोवैज्ञानिक रूप को खूब समझा था। उसने कोई नया पाठ पढ़ाने के जो क्रम नियत किए थे, वे उक्त सिद्धांत पर ही आश्रित थे।

३. 'विधायकता' (Constructiveness)

'विधायकता' के साथ कुछ नवीन उत्पन्न करने का उद्वेग रहता है। विधायक शक्ति पक्षियों में घोंसला बनाने के रूप में दिखाई देती है। बालक भी कुछ-न-कुछ बनाता रहता है। शुरू-

शुरू में उसमें वस्तुओं के वर्तमान रूप में परिवर्तन करने की इच्छा प्रबल होती है। पुस्तक मेज़ पर रक्खी है, तो वह उसे नीचे फेंक देगा, नीचे रक्खी है, तो ऊपर डाल देगा। आपने कुछ लिख कर रक्खा है, तो वह उठाकर उसके दो टुकड़े कर देगा। बनाने तथा बिगाड़ने में वह भेद नहीं करता। धीरे-धीरे यह शक्ति रचना में, बनाने में, विधायकता में बदलती जाती है। कुछ बच्चे मिलकर बैठे हैं, वे मट्टी का घर बनाने लगते हैं, मट्टी का चूल्हा, मट्टी का तवा, मट्टी का आटा और मट्टी की थाली बनाते हैं। यह शक्ति विधायकता की शक्ति है। बालक में यह सोद्देश्य क्रिया है, इसका उद्देश्य कुछ-न-कुछ नया उत्पन्न करना है। इसी शक्ति को विकसित करके, बढ़ाकर, एक ख़ास दिशा में चलाकर उसी बालक को बड़े-बड़े मकान और पुल बनानेवाला एंजीनीयर बनाया जा सकता है। किसी बात को अपने हाथ से करके जितना सीखा जा सकता है उतना किताबें पढ़कर नहीं सीखा जा सकता। आजकल स्कूलों में बालकों से काम करवाकर उन्हें सिखाने का नया तरीक़ा चला है। 'प्रोजेक्ट पद्धति' में बालक मकान तक बनाते हैं, 'मॉन्टिसरी पद्धति' में बालकों के लिये ऐसे उपकरणों का निर्माण किया गया है जिन्हें जोड़-तोड़कर वे कुछ-न-कुछ बनाते रहते हैं, 'बालोद्यान शिक्षा' में भी इस बात को ध्यान में रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त स्वयं करके जो बात सीखी जाती है, वह दिमाग़ में गड़ भी जाती है। शिक्षक को चाहिए कि वह जो कुछ पढ़ाएँ, उसे बालकों से कराता भी जाय।

४. 'युयुत्सा' (Combat)

'युयुत्सा' में 'क्रोध' का उद्वेग काम कर रहा होता है। बालक मज़े में बैठे खेल रहे हैं, इतने में एक बालक दूसरे को मार बैठता है, और कुश्तमकुश्ती होने लगती है। माता-पिता के सामने बच्चे ज़रा-ज़रा-सी बात पर अड़ जाते हैं। बच्चों के इस प्रकार के झगड़ालूपन से माता-पिता बड़े तंग रहते हैं, परंतु यह बालक के विकास के लिये एक अद्भुत शक्ति है, इसे दबाना ठीक नहीं। युयुत्सा तभी उत्पन्न होती है, जब बालक की कोई प्राकृतिक शक्ति रुकती है। वह खाना चाहता है, खाने में रुकावट दीखती है, वह झुँझलाकर छीनने की कोशिश करता है, या ज़मीन पर लोट जाता है। इस दृष्टि से यह अन्य शक्तियों की सहायक शक्ति है। जो बालक बचपन में शांत पड़े रहते हैं, वे अक्सर बड़े होकर बुद्धू निकलते हैं क्योंकि उनमें कठिनाई को जीत लेने का साहस उत्पन्न नहीं होता। शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक में युयुत्सा को दो रूप दे। या तो बालक अपनी रक्षा में लड़े, या अपने से कमज़ोर की रक्षा में लड़े, यों ही दूसरों पर हाथ न चलाता फिरे। चतुर शिक्षक के हाथ में बालक की 'युयुत्सा' एक उत्तम हथियार बन जाती है। किसी बुराई के सामने आने पर, किसी कठिनाई को देखकर बालक का हृदय उत्साह, साहस, विजय की इच्छा से भर जाता है और वह झट-से अपने मार्ग की बाधा को छिन्न-भिन्न कर देता है।

५. 'संचय' (Acquisition)

बालक में संचय की प्राकृतिक शक्ति है। इसमें 'स्वत्व' अर्थात्

ममता का 'उद्वेग' काम कर रहा होता है। बालक को जो कुछ मिलता है, वह उसे इकट्ठा कर लेता है। उसके संग्रह में वे सब चीज़ें मिल जाती हैं, जिन्हें लोग निकम्मी समझकर फेंक देते हैं। काग़ज़ों के टुकड़ों और फटे हुए चीथड़ों से लेकर निबों और स्याही की गोलियों तक सब उसके संग्रहालय में मिल जाता है। शिक्षा की दृष्टि से यह शक्ति बहुत उपयोगी है। जो चीज़ अपनी है उसके लिये मनुष्य सब कुछ करने के लिये उद्यत रहता है। संपत्ति को पंचायती बानाने के विरुद्ध यही युक्ति दी जाती है। कहा जाता है कि अगर ऐसा कर दिया जाय, तो लोग काम करना ही छोड़ दें। कई बालकों को टिकट इकट्ठे करने का शौक़ हो जाता है, उन्हें इससे इतिहास तथा भूगोल आसानी से सिखाया जा सकता है। जिस चीज़ में उनका स्वत्व, उनकी ममत्व-बुद्धि हो गई, उसे साफ़-सुथरा रखना सिखाकर बालकों में सफ़ाई की आदत डालना मुश्किल नहीं रहता। बहुत अधिक ममत्व-बुद्धि से अनुदारता बढ़ सकती है, अतः शिक्षक को इस शक्ति को बेलगाम नहीं छोड़ देना चाहिए।

इनके अतिरिक्त बालक में घृणा के कारण 'निवृत्ति' की शक्ति है। शिक्षक बालक के हृदय में बुराई के प्रति घृणा उत्पन्न करके उससे निवृत्ति उत्पन्न करा सकता है। संसार में बुरे लोग तो रहेंगे, उन्हें दूर नहीं किया जा सकता, परंतु बुराई के प्रति घृणा अवश्य उत्पन्न की जा सकती है। बालक में 'आत्म-गौरव' की शक्ति भी है। वह किसी काम को करता हुआ कहता है, देखो

मैं कैसे करता हूँ, दूसरों का ध्यान अपनी कृत्कार्यता की तरफ़ खींचता है। इस शक्ति का एक-दूसरे से आगे बढ़ने में उपयोग किया जा सकता है। मुख्य-मुख्य 'प्राकृतिक शक्तियों' के वर्णन के बाद अब हम 'स्वाभाविक प्रवृत्तियों' (General Tendencies) का वर्णन करेंगे।

स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ

१. 'सहानुभूति' (Sympathy)

सहानुभूति में कम-से-कम दो व्यक्तियों का होना ज़रूरी है, दोनो में से एक की अनुभूति को दूसरा ग्रहण कर लेता है। किसी दूसरे के मानसिक 'उद्वेग' को हम कैसे ग्रहण कर लेते हैं? यह तो हरएक जानता है कि उद्वेग की अवस्था में व्यक्ति की शारीरिक अवस्था एक ख़ास प्रकार की हो जाती है। अगर वह डर गया है, तो भागने लगता है; दुःखी हो रहा है, तो आँसू बहाने लगता है। इस अवस्था से हम उसके डरने या दुःखी होने का अनुमान करते हैं, और भागते को देखकर ख़ुद भी डर जाते हैं और भागने लगते हैं; रोते को देखकर ख़ुद भी दुःखी होने तथा रोने लगते हैं, उसकी अनुभूति हममें प्रविष्ट हो जाती है। इस समय हमें डर या दुःख के कारण का ज्ञान नहीं होता। दूसरे की 'चिल्लाहट' को सुनकर हम अनुमान करते हैं कि वह डर रहा है, और हम भी डरने लगते हैं; दूसरे के 'आँसू' को देखकर हम समझते हैं कि वह दुःखी हो रहा है, और हम भी दुःख में रोने लगते हैं; दूसरे के मुक्के को देखकर

हमें ज्ञात होता है कि वह गुस्से में है, और हमें भी गुस्सा आने लगता है। इन अवस्थाओं में तो उक्त उद्वेग आप-से-आप हमारे मन में आने लगते हैं, परंतु सहानुभूति की एक वह भी अवस्था होती है जब कि दूसरा व्यक्ति हमारे भीतर किन्हीं खास प्रकार के उद्वेगों को उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा होता है। भिखारी अपने शरीर पर कोई ज़ख्म बना लेता है, व्याख्याता व्याख्यान देता हुआ रोने लगता है, अध्यापक वीरता का पाठ पढ़ाता हुआ ज़ोर से आवेग में बोलने लगता है। इन अवस्थाओं में दूसरे में उद्वेग उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है।

सहानुभूति होना ठीक है या नहीं ? अंधी सहानुभूति ठीक नहीं है। दूसरे को रोते देखकर यों ही रो पड़ना, दूसरे को भागते देखकर यों ही भाग पड़ना मूर्खता है। कई वक्ता जनता में उद्वेग की अवस्था उत्पन्न करके उनसे जो कुछ कराना चाहते हैं, करा लेते हैं। जनता प्रायः उद्वेग से चलती है। यह अवस्था भी ठीक नहीं। परंतु इसका यह मतलब नहीं कि सहानुभूति सदा अंधी ही होती है। सहानुभूति पशुओं तथा मनुष्यों को परस्पर बाँधने का सबसे उत्तम साधन है। शिक्षक तथा माता-पिता के हाथ में सहानुभूति एक ऐसा शस्त्र है जिसका सदुपयोग करके वे बालक के चरित्र-निर्माण में बहुत कुछ कर सकते हैं। जो शिक्षक बालक के उल्टा चलने पर उसे दाद देता है, वह उसकी आदत बिगाड़ देता है। बालक को ऐसे समय सहानुभूति मिल जाती है जब नहीं मिलनी चाहिए थी। इतिहास तथा साहित्य पढ़ाते हुए कई

पात्र आते हैं, अच्छे भी होते हैं, बुरे भी होते हैं। अगर शिक्षक ठीक पात्रों के साथ सहानुभूति प्रकट करता है, तो वह स्वयं बालकों में पहुँच जाती है, और उनके चरित्र-निर्माण में सहायक होती है। प्रसन्न रहनेवाला अध्यापक बालकों में प्रसन्नता का संचार कर देता है, मातमी शक्ल को देखकर बालक भी मातमी शक्लें बना लेते हैं। शिक्षक का कर्तव्य है कि बालकों में अंधी नहीं, उचित सहानुभूति की भावना का संचार करे, उनका सहानुभूति का क्षेत्र संकुचित न हो, विस्तृत हो। परंतु याद रखना चाहिए कि सहानुभूति व्याख्यान देने से उत्पन्न नहीं होती, ठीक प्रकार की सहानुभूति सहवेदना के कार्य 'करने' से आती है। बालकों को सिखाया जाय कि वे अंधे को रास्ता बता दें, बीमार को दवाई ला दें। इससे उनका आत्मिक विकास होगा। इसके अतिरिक्त बालकों में दूसरों के सुख में शरीक होने की भी आदत डालनी चाहिए। दूसरे के दुःख में दुःखी होनेवाले कई मिल जाते हैं, दूसरे के सुख में सुखी होनेवाले थोड़े हैं। उत्तम संस्कारों को डालनेवाले शिक्षक अपने बालकों में इस भावना को उत्पन्न करना भी नहीं भूलते। जो शिक्षक सहानुभूति से बालकों को वश में करना जानता है, उसे नियंत्रण में कोई कठिनाई नहीं होती।

२. 'संकेत-योग्यता' (Suggestibility)

कभी-कभी हम दूसरे के दिए हुए संकेतों (Suggestions) को, उन पर बिना ननु-नच किए मान लेते हैं। दूसरा व्यक्ति लिखकर, जबानी कहकर या किसी अन्य तरीके से हमें कुछ

कहता है, और हम उसकी बात पर झट-से चलने लगते हैं, उस पर बहस नहीं करते। इस प्रकार दूसरे के संकेत को स्वीकार करने की योग्यता, इसकी प्रवृत्ति प्रत्येक बालक में होती है। छोटे बालक, जिनकी आयु तथा विचार परिपक्व नहीं होते, संकेतों के प्रभाव में जल्दी आ जाते हैं। जिन लोगों के किसी विषय में विचार बन चुके होते हैं, वे संकेत को आसानी से ग्रहण नहीं करते। संकेत को ग्रहण करने में शारीरिक अवस्था भी कारण होती है। थका हुआ आदमी हरएक बात में 'हाँ' कर देता है। कमज़ोर व्यक्ति अपने से अधिक बलवान्, तथा निराश अपने से अधिक सफल व्यक्ति की बात को झट-से मान लेता है। प्रत्येक व्यक्ति में संकेत को ग्रहण करने की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है। किसी बालक की 'संकेत-योग्यता' (Suggestibility) की मात्रा का पता लगाने के लिये जितने संकेत उसे दिए जायँ, उनकी संख्या से, जितने संकेतों को वह ग्रहण करे, उन्हें विभक्त कर देना चाहिए। इस प्रकार 'संकेत-योग्यता का गुणक' (Co-efficient of Suggestibility) निकल आता है। उदाहरणार्थ, एक बालक को १० संकेत दिए गए, उसने ५ के अनुसार काम किया, उसकी 'संकेत-योग्यता का गुणक' ५/१० हुआ। इसको प्रतिशत में कहने के लिये गुणक को १०० से गुणा कर देना चाहिए। जिस बालक के विषय में हम लिख रहे हैं उसकी संकेत ग्रहण करने की योग्यता ५/१० × १०० = ५० प्रतिशत हुई। संकेतों का विभाग इस प्रकार किया गया है :—

(क). 'वृद्ध-संकेत' (Prestige Suggestions) वे कहाते हैं जो माता-पिता अथवा शिक्षक की तरफ़ से बालक को दिए जाते हैं। बालक इसलिये उनके अनुसार चलता है क्योंकि कोई बड़ा उसे कह रहा है।

(ख). दूसरे संकेत वे हैं जो बहुपक्ष के होते हैं, इन्हें 'बहु-संख्याक संकेत' (Mass Suggestions) कहते हैं। जब कई लोग मिलकर एक बात को कहने लगते हैं, तो इकले व्यक्ति के लिये अलग सम्मति रखना मुश्किल हो जाता है। स्कूल में लड़के अक्सर वही बात कहते या करते हैं जो बहुपक्ष की होती है।

(ग). तीसरे संकेत 'आत्म-संकेत' (Auto-Suggestions) कहाते हैं। किसी को कह दिया जाय, वह कमज़ोर हो रहा है, तो वह सचमुच कमज़ोर होने लगता है।

(घ). चौथे प्रकार के संकेत 'विरुद्ध-संकेत' (Contra-suggestions) कहाते हैं। इसमें जो कुछ कहा जाय, व्यक्ति उससे उल्टा कहता या करता है। जीवन में ऐसी घटनाएँ रोज़ दिखाई देती हैं। किसी ने पूछा, आप जायँगे, आपको जाना भी है, परंतु आप कह देते हैं, हम नहीं जायँगे। बहस करने में ऐसे पक्ष अक्सर बन जाते हैं, दूसरा व्यक्ति जो कुछ कहता है, हम उससे उल्टा कहने लगते हैं।

शिक्षक बालक को या तो सब कुछ बतला सकता है, या उसे संकेत देकर उससे ही बात निकलवा सकता है। वही शिक्षक चतुर समझा जाता है जो स्वयं सब कुछ न बताए, संकेतों

द्वारा बालक से ही उत्तर को निकलवा ले। संकेतों द्वारा 'आत्म-क्रियाशीलता' (Self-activity) को बढ़ाना ही शिक्षक का काम है। परंतु कई शिक्षक इतने अधिक संकेत देने लगते हैं कि बालक की विचार-शक्ति को, 'आत्म-क्रियाशीलता' को प्रोत्साहना देने के बजाय संकेतों की भरमार कर देते हैं। इससे स्वतंत्र विचार-शक्ति मारी जाती है, ऐसा नहीं करना चाहिए। डमवेल का कथन है कि शिक्षक प्रायः इस प्रवृत्ति का दुरुपयोग करते हैं। शिक्षक अक्सर ऐसे प्रश्न करने लगते हैं जिनका उत्तर 'हाँ' या 'न' में होता है। कई शिक्षक ऐसे प्रश्न करते हैं जिनका उत्तर प्रश्न में ही आ जाता है। ये दोनो बातें मानसिक विकास को रोकती हैं। संकेत की प्रवृत्ति का इस्तेमाल करना चाहिए, परंतु सँभलकर। 'यह मत करो', 'यह ग़लत है', इस प्रकार के वाक्यों द्वारा शिक्षा देना कभी-कभी उल्टा पड़ जाता है। बालक की 'विरुद्ध-संकेत' की प्रवृत्ति उससे वही कराने लगती है जिस बात से उसे मना किया जा रहा है। इसके बजाय कि बालक को ग़लत क्या है, यह बताकर, सही बताया जाय, सही ही बताकर उसपर चलने की शिक्षा देनी चाहिए। मानसिक विकास की अपेक्षा आत्मिक-विकास में 'संकेत-योग्यता' का अधिक अच्छा उपयोग किया जा सकता है। बालक को प्रारंभिक जीवन में, जब कि उसमें विचार-शक्ति का विकास नहीं हुआ होता, संकेतों द्वारा ही बुराई से हटाकर अच्छाई की तरफ़ प्रवृत्त किया जा सकता है। इस समय शिक्षक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि

क्योंकि बालक 'बहुसंख्याक संकेत' (Mass Suggestions) से बहुत प्रभावित होता है, इसलिये शिक्षक को स्कूल में उच्च विचारों का बहुमत बनाए रखना चाहिए। अगर स्कूल में अधिक संख्या उच्च विचारों की है, तो बहुत-से बालक खुद-ब-खुद उन विचारों के हो जाते हैं।

३. 'अनुकरण' (Imitation)

थॉर्नडाइक का कथन है कि 'अनुकरण' प्राकृतिक शक्तियों के वर्गीकरण में गिनी जानेवाली प्रवृत्ति नहीं है। लोग कहते हैं कि बालक 'अनुकरण' से सीखता है, थॉर्नडाइक कहता है कि नहीं, अनुकरण से नहीं सीखता। तो फिर वह कैसे सीखता है ? हम 'हँसने' को ले लेते हैं। कहा जाता है कि हम हँसते हैं, हमें हँसता देख बालक अनुकरण करता है, और हँसने लगता है, वह हँसना सीख जाता है। थॉर्नडाइक कहता है कि अगर अनुकरण से ही बालक सीखना शुरू करे, तो सारी आयु में केवल बोलना भी नहीं सीख सकता। बोलते समय २० मांसपेशियाँ काम करती हैं। अगर इनके तीन-तीन भी खिंचाव-तनाव माने जायँ, और बालक दस घंटा रोज़ इनका संचालन सीखे, तो तीस साल में भी केवल अनुकरण के आधार पर बालक बोलना तक नहीं सीख सकता। बालक किस मांसपेशी को कब, किस प्रकार हिलाए कि अमुक अनुकरण उत्पन्न हो जाय, यह उसे सिखाने कौन आता है ? अस्ल बात यह है कि मनुष्य की शारीरिक रचना ही इस प्रकार की बनी है कि शरीर की मांसपेशियों की भिन्न-

भिन्न स्वतंत्र इकाइयाँ हैं, और वे स्वतंत्र रूप से 'सहज-क्रिया' करती हैं। आँख की इकाई अलग है, हाथ की अलग, इनकी अलग-अलग स्वतंत्र रूप से 'सहज-क्रिया' होती है, और यह 'सहज-क्रिया' 'संबद्ध' हो जाती है। हमसे एक गज़ की दूरी पर एक चीज़ पड़ी है। आँख की इकाई स्वतंत्र रूप से एक गज़ का अंदाज़ा लगाती है, हाथ की अलग, और ये दोनो अंदाज़ जुड़ जाते हैं, हाथ अपने को उतना ही बढ़ाता है, जितना आँख देखती है। हाथ के अंदाज़ और आँख के अंदाज़ का आपस में कोई संबंध नहीं था, यह संबंध उत्पन्न हो जाता है, और हम दूरी का ज्ञान सीख जाते हैं। इस दृष्टि से हमारा 'सीखना' शरीर की भिन्न-भिन्न स्वतंत्र 'सहज-क्रियाओं' का परस्पर संबद्ध हो जाना है, सीखना 'संबद्ध सहज-क्रिया' (Conditioned Reflex) है, 'अनुकरण' नहीं। बच्चे हँसना कैसे सीख जाते हैं? गुदगुदाने से स्वयं हँसी आती है, यह 'सहज-क्रिया' है, परंतु क्योंकि गुदगुदी करनेवाला गुदगुदाते हुए स्वयं भी हँसता है, इसलिये पीछे चलकर बच्चा उसे हँसते देखकर भी हँसने लगता है। पहले गुदगुदी हुई और हँसी आई, अब वह 'सहज-क्रिया' गुदगुदी करने से असंबद्ध होकर गुदगुदानेवाले के साथ संबद्ध हो जाती है, बच्चा बिना गुदगुदाने पर भी उसे देखकर हँसने लगता है। इस प्रकार हँसना 'संबद्ध सहज-क्रिया' द्वारा ही होता है। हम भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि सीखना (Learning) 'संबद्ध सहज-क्रिया' द्वारा होता है,

परंतु क्या 'अनुकरण' की सत्ता से इनकार किया जा सकता है ? बोलने का साधन गला तो सबके पास एक समान है। इसकी 'सहज-क्रिया' भी सबकी समान होती है, परंतु फिर बंगाली, पंजाबी आदि के हिंदी या अँगरेज़ी बोलने के लहजे में भेद क्यों पाया जाता है ? बंगाली के अँगरेज़ी के उच्चारण को सुनकर झट कहा जा सकता है कि वह बंगाली है। इस भेद का कारण अनुकरण को ही मानना पड़ता है। उसने बंगालियों का ही अनुकरण किया है, इसलिये उन्हीं का-सा बोलता है।

'अनुकरण' के कई विभाग किए जाते हैं। कर्कपैट्रिक ने इसके पाँच विभाग किए हैं :—

(क). 'सहज अनुकरण' (Reflex Imitation) जैसे, दूसरे को उबासी लेते देखकर उबासी आ जाना, नम्र देखकर नम्र हो जाना, कठोर देखकर कठोर हो जाना, लापरवाह देखकर लापरवाह हो जाना।

(ख). 'स्वाभाविक अनुकरण' (Spontaneous Imitation) वे हैं जिन्हें अनुकरण करने को ख़ुद जी करने लगे। जो चीज़ बालक को पसंद आ जाती है, उसका वह अनुकरण करने लगता है। गाड़ी को सीटी देते देखकर बालक भी सीटी बजाने लगते हैं।

(ग). 'अभिनयानुकरण' (Dramatic Imitation) वह है जिसमें बालक देखी हुई चीज़ों का नाटक करने लगते हैं। गुड़िया को बालक बाक़ायदा सुलाते हैं, निल्हाते हैं, खिलाते हैं,

जैसे ख़ुद सोते, नहाते और खाते हैं। इसका महत्त्व फ्रिबल ने ख़ूब समझा था। बालोद्यान-शिक्षा में ऐसे कई खेल होते हैं।

(घ). 'सप्रयोजनानुकरण' (Purposeful Imitation) वह है जिसमें किसी उद्देश्य से बालक अनुकरणीय पदार्थ को सामने रखकर उसका अनुकरण करता है। जैसे अच्छा लेख सीखने के लिये किसी सुलेखक का लेख सामने रखता है, और उसका अनुकरण करता है।

(ङ). 'आदर्शानुकरण' (Idealistic Imitation) वह है जिसमें बालक किसी आदर्श को सामने रखकर उसका अनुकरण करता है। पहले वह अपने से बड़ों के बताए हुए आदर्शों का 'अनुकरण' करता है, फिर ख़ुद बड़ा होकर अपने ही आदर्श बना लेता है, और उनका अनुकरण करने लगता है।

मैग्डूगल ने भी अनुकरण को पाँच भागों में बाँटा है।

ड्रेवर ने अनुकरण के दो विभाग किए हैं—(१) 'स्वाभाविक' (Unconscious) तथा (२) 'सप्रयत्न' (Deliberate)। हम समाज में रहते हुए जो कुछ सीख जाते हैं वह 'स्वाभाविक अनुकरण' है। हमारी बोल-चाल, रहन-सहन, बोलने का तरीक़ा, सब स्वाभाविक अनुकरण हैं, इनके लिये प्रयत्न नहीं किया जाता, ये बालक को आप-से-आप आ जाते हैं। इसी लिये परिस्थिति को शुद्ध रखने की बड़ी आवश्यकता है। गंदे वायुमंडल में रहकर बालक गंदी बातों का अनुकरण झट-से सीख जाता है। 'सप्रयत्न अनुकरण' वह है जिसमें बालक किसी उद्देश्य से कोई बात

सीखता है। स्कूल का सारा कार्य 'सप्रयत्न अनुकरण' है। इन दो के अलावा ड्रेवर ने अनुकरण के दो भेद और भी किए हैं—'दृश्यानुकरण' (Perceptual Imitation) तथा 'विचारानुकरण' (Ideational Imitation)। 'दृश्यानुकरण' तब होता है जब कि जिस चीज़ का वह अनुकरण कर रहा है, वह उसकी आँखों के सामने हो; 'विचारानुकरण' तब होता है जब कि वह वस्तु तो सामने नहीं, परंतु उसका विचार मन में हो, और हम उसके अनुकरण का प्रयत्न करें।

शिक्षा की दृष्टि से अनुकरण का बड़ा भारी महत्त्व है। बालक अनुकरण से ही बहुत-कुछ सीखता है। इस कारण शिक्षक का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह बालक के सम्मुख स्वयं भी आदर्श बनने का प्रयत्न करे, नहीं तो शिक्षक के अनेक दोष बालक में आ सकते हैं। बालक अनुकरण करते हुए जब एक दूसरे से बढ़ना चाहते हैं, तो एक और प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसे 'स्पर्धा' (Emulation) कहते हैं। जो बालक दूसरों से बढ़ नहीं सकते, वे दूसरे का अहित-चिंतन करने लगते हैं, इसे 'ईर्षा' (Envy) कहा जाता है। शिक्षक को चाहिए कि बालकों में 'स्पर्धा' को प्रोत्साहित करे, 'ईर्षा' को उत्पन्न न होने दे। कई लोगों का विचार है कि 'अनुकरण' से बालक की प्रतिभा मारी जाती है, वह दूसरे की नक़ल-मात्र रह जाता है। परंतु यह तब होता है जब अनुकरण अंत तक अनुकरण ही बना रहे। अनुकरण का उद्देश्य प्रतिभा को जगाना है, व्यक्तित्व को उत्पन्न करने

के लिये उचित सामग्री देना है। अगर अनुकरण यह काम करता है, तो वह प्रतिभा को दबाने के बजाय उसे प्रोत्साहित करता है।

४. 'खेल' (Play)

जितनी भी प्राकृतिक शक्तियों या स्वाभाविक प्रवृत्तियों का वर्णन किया जा चुका है, शिक्षा की दृष्टि से, खेल उन सब से ज्यादा महत्त्व-पूर्ण है। पुराने शिक्षक समझते थे कि खेलना समय नष्ट करना है। शिक्षा के क्षेत्र में खेल के महत्त्व को हाल ही में समझा जाने लगा है। यह प्रवृत्ति सबसे अधिक व्यापक है। अनुकरण, युयुत्सा, विधायकता आदि अनेक प्राकृतिक शक्तियों में खेल की प्रवृत्ति काम कर रही होती है। शुरू-शुरू में बालक इकला खेलना पसंद करता है, वह बैठा-बैठा कुछ-न-कुछ किया करता है। धीरे-धीरे वह अनुभव करने लगता है कि खेलने के लिये उसे साथियों की ज़रूरत है। इस दृष्टि से खेल एक सामाजिक प्रवृत्ति है। दूसरे के साथ खेलता हुआ बालक बहुत-कुछ सीख जाता है। खेल भिन्न-भिन्न तरह का होता है। किसी आयु में कोई खेल बालक को आकर्षित करता है, किसी में कोई। कार्लग्रूस ने खेलों के पाँच प्रकार कहे हैं :—

(क). परीक्षणात्मक (Experimental Play)

(ख). दौड़-धूपवाले खेल (Movement Play)

(ग). रचनात्मक खेल (Constructive Play)

(घ). लड़ने-झगड़नेवाले खेल (Fighting Play)

(ङ). मानसिक खेल (Intellectual Play)

परीक्षणात्मक खेल वे हैं जिनमें बालक चीजों को धरने-उठाने में लगा रहता है। इनमें कोई उद्देश्य नहीं रहता। इन खेलों से बालक को अपनी परिस्थिति का ज्ञान हो जाता है और उसकी इंद्रियाँ विषयों को पहचानने लगती हैं। दौड़-धूपवाले खेल बालकों के एक दूसरे के पीछे भागने, पत्थर आदि उठाकर फेकने के रूप में पाए जाते हैं। इनसे बालकों के शरीर का गठन दृढ़ होता है, और शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों का पारस्परिक सहयोग बढ़ता है। रचनात्मक खेलों में लड़के मट्टी का घर बनाते हैं, स्काउटिंग सीखते हुए पुल बनाते हैं, और इसी प्रकार के रचनात्मक कार्य करके बहुत-कुछ सीख जाते हैं। इस प्रकार स्वयं हाथों से काम करके बालक जितना सीख जाते हैं उतना किताबों को पढ़ाने से नहीं सीख सकते। लड़ने-झगड़ने के खेल कबड्डी, कुश्ती, हॉकी, फुटबॉल आदि हैं। इनमें हारकर भी हँसते रहने और दूसरे के साथ वैर-भाव न पैदा करने की भावना उत्पन्न होती है, जो चरित्र-निर्माण में बहुत उपयोगी है। मानसिक प्रयत्नवाले खेल तीन तरह के होते हैं। (१) 'विचारात्मक' (Intellectual), जैसे, शतरंज, ताश, ड्राफ्ट, शब्द-रचना आदि ; (२) 'उद्वेगात्मक' (Emotional), जैसे, नाटक आदि का खेलना जिनमें वीर, बीभत्स, रौद्र आदि रस हों ; (३) 'कृत्यात्मक' (Volitional), जैसे, कोई हँसानेवाली कहानी कहकर न हँसने की शर्त लगा दी जाय, चुटकी लेकर न चिल्लाने की शर्त बाँध दी जाय ; जो हँस पड़े, चिल्ला पड़े, वह हारा समझा जाय।

'खेल' (Play) तथा 'काम' (Work) में भेद है, परंतु यह भेद बहुत बारीक है। जो बात एक व्यक्ति के लिये 'खेल' है, वह दूसरे के लिये 'काम' हो सकती है, इसी प्रकार एक ही बात उसी व्यक्ति के लिये किसी समय 'काम' और किसी समय 'खेल' हो सकती है। टैनिस खिलाड़ी के लिये 'खेल' है, गेंद उठाकर देनेवाले नौकर के लिये 'काम' है; पहाड़ पर चढ़ना मजे के लिये चढ़नेवाले के लिये 'खेल' है, कुली के लिये 'काम' है। 'खेल' तथा 'काम' का भेद क्रिया के प्रकार पर नहीं, कर्ता के दृष्टिकोण पर होता है। 'काम' तथा 'खेल' में भेद तीन प्रकार का है। (१) 'काम' में उद्देश्य की सिद्धि की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, 'खेल' में खेलने की क्रिया के व्यापार में ही उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। काम में बाह्य उद्देश्य रहता है, खेल में बाह्य उद्देश्य नहीं रहता। कई कहते हैं कि खेल में भी सफलता प्राप्त करना या खुशी हासिल करना उद्देश्य है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि खेल का उद्देश्य असली उद्देश्य नहीं, वह तो अपने मन की मौज का उद्देश्य है। 'काम' का उद्देश्य उपयोगिता की दृष्टि से देखा जाता है, 'खेल' का उद्देश्य मन की मौज के सिवा कुछ नहीं। (२) 'काम' में स्वतंत्रता नहीं रहती, हमें काम करना ही होता है, खेल में स्वतंत्रता रहती है, जब मर्जी हो हम काम करें, जब मर्जी हो न करें। (३) 'काम' में प्रसन्नता होना आवश्यक शर्त नहीं है, काम में कष्ट हो तब भी काम तो करना ही पड़ता है। 'खेल' में प्रसन्नता, ख़ुशी आवश्यक शर्त है।

खेल की प्रवृत्ति का आधार क्या है, इस विषय में निम्न सिद्धांत हैं :—

(क). 'अतिशय शक्तिवाद' (Surplus Energy Theory)—शिलर तथा स्पेंसर का कथन है कि प्राणी में आवश्यकता से अधिक जो शक्ति होती है उसे वह खेल में ख़र्च करता है, ठीक ऐसे जैसे एंजिन की भाप बढ़ जाने से उसे खोल दिया जाता है। बच्चों को ख़ुद कुछ काम नहीं करना होता, माता-पिता उनके लिये सब-कुछ कर देते हैं। वे अपनी शक्ति का क्या करें? बस, वे उस शक्ति का खेलने द्वारा व्यय करते हैं। परंतु यदि यह बात ठीक है, तो कमज़ोर, थके हुए और बीमार व्यक्ति क्यों खेलते हैं, उनमें तो आवश्यकता से अधिक शक्ति नहीं होती?

(ख). 'पुनरावृत्तिवाद' (Recapitulation)—स्टेनले हाल का कथन है कि बालक बचपन से युवावस्था तक उस लंबे रास्ते को तय करता है जो उसके पूर्वजों ने सृष्टि के प्रारंभ से अब तक तय किया है। इस प्रकार बचपन की भिन्न-भिन्न खेल की क्रियाएँ उसके पूर्वजों के कार्यों की पुनरावृत्ति हैं। किसी समय मनुष्य जंगली रहा होगा, वह अपने शिकार की टोह में छिपकर बैठता होगा, उसे ढूँढ़ता होगा, यही प्रवृत्ति बचपन में आँख-मिचौनी के खेल में पाई जाती है। इसी प्रकार अन्य खेल भी उसकी जंगली अवस्था की स्मृतियाँ हैं।

(ग). 'परिष्कृतिवाद' (Cathartic Theory)—हमने अभी कहा, बालक अपने जंगली पूर्वजों की संतान है।

उनकी भिन्न-भिन्न जंगली प्रवृत्तियाँ जो बालक में वंशानुसंक्रम द्वारा आई होती हैं समाज के सभ्यता के नियमों के कारण दबी रहती हैं। खेल उनके बाहर निकालने तथा बालक को परिष्कृत करने का एक साधन है। इस अर्थ में 'परिष्कृति' (Catharsis) शब्द का पहले-पहल अरस्तु ने प्रयोग किया था। उसका कथन था कि अभिनय द्वारा अंदर दबे हुए भाव निकलकर आत्मा परिष्कृत हो जाता है।

(घ). 'पुनः प्राप्तिवाद' (Recuperative Theory)— इसके प्रवर्तक लेज़रस महोदय हैं। उनका कथन है कि बालक के शरीर तथा दिमाग़ जब थक जाते हैं तब वह खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त करने के लिये खेल की तरफ़ झुकता है। यह विचार 'अतिशय शक्तिवाद' से उल्टा है।

(ङ). 'पूर्वाभिनयवाद' (Anticipatory Theory)— मेल ब्रांश तथा कार्ल ग्रूस का मत है कि बालक को युवावस्था में जो-जो कुछ करना होता है, बालक उसकी खेल में पहले से ही तैयारी करता है, उसका अभ्यास करता है। छोटी-छोटी लड़कियाँ गुड़ियों से खेलती हैं, उनके घर बनाती हैं, उनके कपड़े सीती हैं, यह सब मानो उनकी आनेवाले जीवन के लिये तैयारी होती है।

शुरू में देखने से ऐसा पता लगता है कि ये पाँचो वाद एक दूसरे के विरुद्ध हैं। परंतु ऐसा नहीं है। पर्सी नन के शब्दों में ये एक दूसरे के विरुद्ध नहीं, पूरक हैं। इनसे खेल के किसी-न-किसी पहलू पर प्रकाश पड़ता है।

शिक्षा में खेल की प्रणाली (Play Way) को आजकल बहुत स्थान दिया जाता है। इस बात का उद्योग किया जाता है कि बालक तथा शिक्षक शिक्षा को 'काम' न समझकर 'खेल' समझें, और बालक को खेल-खेल में बहुत-कुछ सिखा दिया जाय। तथा 'स्वतंत्रता' का अंश रहता है। शिक्षा देते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक पढ़ते हुए प्रसन्नता से सब कुछ पढ़ जाय, और साथ ही अपने को बँधा हुआ अनुभव न करे। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में इन दोनो बातों पर ध्यान देना तो दूर रहा, इन्हें शिक्षा के लिये हानिकर समझा जाता था। आजकल शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में 'खेल' (Play) को आधारभूत बनाया जा रहा है। शिक्षा देने के तरीक़े, स्कूल नियंत्रण, प्रबंध तथा पढ़ाई में खेल की प्रणाली को काम में लाया जा रहा है। आजकल जितनी भी शिक्षा-प्रणालियाँ आविष्कृत हुई हैं, उन सबको समझने के लिये शिक्षा में खेल के महत्त्व को समझना ज़रूरी हो गया है। खेल की प्रणाली पर आश्रित निम्न शिक्षा-पद्धतियाँ इस समय प्रचलित हैं:—

(क). 'मॉन्टीसरी शिक्षा-पद्धति'—इस पद्धति में बालक खिलौनों के साथ खेलते हैं, खेल-खेल में ही वस्तुओं के नाप, तोल, रंग, रूप, दूरी आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता रहती है, क्योंकि वहाँ कोई शिक्षक नहीं होता, सहायक के रूप में एक निरीक्षक रहता है। इस प्रकार के काम में उन्हें आनंद भी ख़ूब मिलता है।

(ख). 'डाल्टन शिक्षा-पद्धति'—खेल द्वारा शिक्षा देने का दूसरा तरीक़ा 'डाल्टन-पद्धति' है। 'डाल्टन'-प्रणाली का जन्म ही पुरानी शिक्षा-प्रणाली के विरोध में हुआ है। इसमें न समय-विभाग का बंधन होता है, न घंटी की पाबंदी। बालक अपनी इच्छानुसार जिस विषय को जितनी देर तक चाहता है, पढ़ता है। यहाँ भी कोई शिक्षक नहीं होता, केवल कठिनाइयाँ हल करने के लिये एक सहायक होता है। डाल्टन-प्रणाली द्वारा, जिसमें कोई बाह्य बंधन नहीं, बालक के व्यक्तित्व का उच्च विकास संभव है।

(ग). 'प्रोजेक्ट शिक्षा-पद्धति'—शिक्षा को खेल के समान रुचिकर, प्रिय तथा सरल बनाने का एक और तरीक़ा प्रोजेक्ट-प्रणाली है। इसमें स्कूल के कार्य को जीवन की समस्याओं के साथ जोड़कर बालकों के सामने एक 'प्रयोजन' (Purpose) रख दिया जाता है। बालक उन समस्याओं का अपने ढंग से अपने-आप प्रेम, लगन और उत्साह के साथ हल करने में जुट जाते हैं। इस प्रकार बात-ही-बात में वे बहुत-कुछ सीख जाते हैं।

(घ). 'अभिनय-पद्धति'—इस तरीक़े से बालक इतिहास और साहित्य बड़ी सुगमता से सीखते हैं। उन्हें इतिहास रटना नहीं पड़ता। राणा प्रताप और अकबर का अभिनय करके बालक उनके जीवन की घटनाओं को ही आसानी से नहीं सीख जाते, उनके चरित्र पर भी इसका स्थायी प्रभाव पड़ जाता है।

(ङ). 'बालचर-पद्धति'—यह प्रणाली बालक का ख़ाली समय अच्छी तरह बिताने पर जोर देती है। वास्तविक शिक्षा

वह है जो बालक को अपने अवकाश के समय को भली भाँति व्यतीत करने के योग्य बनाए। इस प्रणाली द्वारा बालक को खेल-खेल में जीवन की बहुत-सी उपयोगी बातों का ज्ञान हो जाता है। इस समय जर्मनी, इटली तथा अन्य देशों में युवकों के अलग-अलग संगठन बन रहे हैं, इसे युवक-प्रगति (Youth Movement) का नाम दिया जाता है। युवकगण अपने खाली समय में दूर-दूर स्थानों का भ्रमण करते हैं, सब काम अपने हाथों से करते हैं। इन प्रगतियों से, जिनका आधार खेल की प्रवृत्ति को भिन्न-भिन्न दिशाएँ देना है, बालक के शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास में बड़ी सहायता मिलती है।

सप्तम अध्याय

'संवेदन', 'उद्वेग' तथा 'स्थायी भाव'

मनोविज्ञान का मुख्य विषय प्राणी के मानसिक व्यापारों का अध्ययन करना है। मानसिक व्यापार तीन तरह के माने जाते हैं। ज्ञान (Knowing) ; संवेदन (Feeling) ; कृति, व्यवसाय अथवा प्रयत्न (Willing)। संसार के पदार्थों को देखने, छूने, जानने, स्मरण रखने, उनका संबंध जोड़ने तथा उनकी कल्पना करने के संबंध में जो मानसिक व्यापार होता है, वह 'ज्ञान' के अंतर्गत है। उन पदार्थों के विषय में सुख, दुःख, भय, क्रोध, प्रेम, संतोष आदि का अनुभव 'संवेदन' कहा जाता है। मनुष्य के अनुभव में जो कुछ आता है, उसे वह क्रिया में परिणत करने का इरादा करता है। ध्यान, इरादा, प्रयत्न 'कृति-शक्ति' में प्रविष्ट समझे जाते हैं। सब मानसिक व्यापार इन तीनो के अंदर आ जाते हैं, इनके बाहर कोई नहीं रहता।

मानसिक व्यापारों के उक्त भेदों का यह मतलब नहीं कि मन की ये तीनो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। मानसिक व्यापार एक अभिन्न प्रक्रिया का नाम है। उक्त तीनो प्रकार के व्यापार उसमें मिले-जुले रहते हैं। 'ज्ञान' से संवेदन तथा कृति को जुदा नहीं किया जा सकता, 'संवेदन' में ज्ञान तथा कृति शामिल रहते हैं,

'कृति' में ज्ञान तथा संवेदन मौजूद हैं। परंतु फिर भी हमारे मानसिक व्यापार में किसी-न-किसी प्रक्रिया की प्रधानता रहती है, उसी के आधार पर हम उस व्यापार को ज्ञान, संवेदन अथवा कृति का नाम देते हैं। रास्ते चलते हमें चोट लग जाती है, हम गिर पड़ते हैं, अनेक तमाशबीन इकट्ठे हो जाते हैं। उस समय हमें चोट लगने का 'ज्ञान' है, दुःख हो रहा है इसलिये हम में 'संवेदन' भी है, हम पाँव को ज़ोर से हाथ में पकड़े बैठे हैं ताकि दर्द कम हो जाय, इस दृष्टि से 'कृति' भी है, परंतु इन तीनो में 'संवेदन' की प्रधानता हैं। तमाशबीन लोग सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, दर्द दूर करने के लिये कुछ करना भी चाहते हैं, किसे चोट लगी, कैसे लगी, कहाँ लगी, इस प्रकार की कौतुक-पूर्ण जिज्ञासा की उनमें प्रबलता है, इसलिये उनका व्यापार 'ज्ञान'-प्रधान कहाता है। अगर इस समय कोई चिकित्सक आ पहुँचे, और एकदम कपड़ा गीला कर प्रारंभिक चिकित्सा शुरू कर दे, तो यह तो नहीं कहा जा सकेगा कि उसमें 'ज्ञान' तथा 'संवेदन' नहीं, परंतु हाँ, इन दोनो की अपेक्षा उसमें 'कृति' अथवा 'प्रयत्न' की प्रधानता अवश्य कही जायगी।

हम इस अध्याय में इन तीनो में से केवल 'संवेदन' (Feeling) पर, और उसके साथ संबद्ध विषय, 'उद्वेग' (Emotion) तथा 'स्थायी भाव' (Sentiment) पर मनोवैज्ञानिक विवेचन करेंगे, और 'स्थायी भाव' के साथ ही 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' का भी वर्णन करेंगे।

१. 'संवेदन' (Feeling)

प्रत्येक व्यक्ति सुख, दुःख, ईर्षा, द्वेष, काम, क्रोध आदि का अनुभव करता है। इन्हीं के अनुभव को 'संवेदन' कहते हैं। 'संवेदन' दो तरह का होता है। (१) 'इंद्रिय'-संवेदन (Feeling as Sensation) तथा (२) 'भाव'-संवेदन (Feeling as Emotion)। मेरा हाथ दीवार से टकरा गया, मुझे दर्द हुई, यह 'इंद्रिय-संवेदन' है ; एक आदमी मेरी चुग़ली करता है, मुझे क्रोध आया, यह 'भाव-संवेदन' है। 'इंद्रिय-संवेदन' जीवन में शुरू-शुरू में होने लगता है, 'भाव-संवेदन' बाद में बड़े होकर आता है ; 'इंद्रिय-संवेदन' में उत्तेजना बाहर से होती है, 'भाव-संवेदन' में उत्तेजना भीतर से होती है ; 'इंद्रिय-संवेदन' में अनुभव का शरीर से संबंध होता है, 'भाव-संवेदन' में अनुभव का मन से संबंध होता है ; 'इंद्रिय-संवेदन' का संबंध शरीर के किसी एक हिस्से के साथ होता है, 'भाव-संवेदन' में संपूर्ण शरीर क्षुब्ध हो जाता है।

बालक का जबतक मानसिक विकास नहीं होता तबतक वह प्राकृतिक शक्तियों (Instincts) के ही अधीन रहता है, उसमें 'इंद्रिय-संवेदन' (Sensuous feeling) रहता है, 'भाव-संवेदन' नहीं उत्पन्न होता। उसे भूख लगी, वह रोने लगता है ; पेट भर गया, फिर खेलने लगता है। किसी ने मारा, वह चिल्ला पड़ा, इतने में किसी ने मिठाई दे दी, वह रोना भूलकर खाने में जुट गया। 'इंद्रिय-संवेदन' से आगे वह नहीं बढ़ता। बालक के 'इंद्रिय-संवेदन' में अपनी ही चार विशेषताएँ रहती हैं :—

(क). उसके संवेदन बहुत 'प्रारंभिक प्रकार' के होते हैं, 'स्वार्थमय' होते हैं। भूखे बालक को जबतक खाने को नहीं दिया जायगा, तबतक वह चीख़ता ही रहेगा, क़ाबू में हरगिज़ नहीं आयगा। प्यास लगी है, तो जहाँ होगा वहीं शोर मचा देगा, इस बात की पर्वा नहीं करेगा कि वहाँ शोर मचाना चाहिए या नहीं। क्रोध, आश्चर्य, भय, दुःख, ईर्षा आदि के संवेदन उसमें इस समय बहुत निचले दर्जे के होते हैं। वह पशु की सतह पर होता है, और इन वृत्तियों का संबंध उसके खाने-पीने तथा इसी प्रकार की बातों के साथ रहता है।

(ख). बालक की स्मृति तथा बुद्धि विकसित नहीं हुई होती, इसलिये वह भूत तथा भविष्यत् के विषय में तो सोच ही नहीं सकता। इसीलिये जो चीज़ उसके सामने होती है, उसी के साथ उसके संवेदन का संबंध होता है। अगर उसके सामने बिल्ली है, तो वह डरता है; सामने नहीं है, तो जब तक उसमें कल्पना-शक्ति उत्पन्न नहीं हो जाती, तबतक नहीं डरता।

(ग). बालक का संवेदन 'तीव्र' होता है, जबतक उसका संवेदन रहता है, तबतक वह पूर्णतया उसके वशीभूत रहता है।

(घ). परंतु तीव्र होते हुए भी वह देर तक नहीं रहता। तबतक उसमें स्मृति के द्वारा संवेदन करने की शक्ति उत्पन्न नहीं हुई होती, इसलिये ज़ोर से रोता हुआ भी झट-से चुप हो जाता है। बालकों में आँसुओं-भरी आँखों के साथ हँसते हुए होंठ नई घटना नहीं है।

२. 'उद्वेग' (Emotions)

जब बालक का मानसिक विकास होने लगता है, तब वह 'इंद्रिय-संवेदन' (Feeling as Sensation) से ऊपर उठ जाता है; उसमें 'भाव-संवेदन' (Feeling as Emotion) प्रकट होने लगता है। अब खाने-पीने की बातों के साथ ही उसका सुख-दुःख नहीं जुड़ा रहता, कई 'भावों' के साथ भी उनमें नाना प्रकार के संवेदन उठने लगते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस समय बालक में 'उद्वेग' (Emotions) प्रकट होने लगता है। 'भाव-संवेदन' 'उद्वेग' का ही दूसरा नाम है। 'इंद्रिय-संवेदन' बालक की प्रारंभिक अवस्था में होता है; 'उद्वेग' उसमें तब प्रकट होने लगता है, जब उसका व्यवहार केवल 'प्राकृतिक शक्तियों' (Instincts) से ही नहीं चल रहा होता, अपितु उसमें विचार-शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। पहले बालक माता से इसलिये प्रेम करता है क्योंकि वह उसे दूध देती है, अब वह उसे प्रेम करता-करता ऊँची भावनाओं के कारण प्रेम करना सीख गया है। पहला प्रेम 'इंद्रिय-संवेदन' के दर्जे पर है, दूसरा प्रेम 'भाव-संवेदन' या उद्वेग के दर्जे पर कहा जाता है। बालक में 'उद्वेग' (Emotion) की अवस्था 'इंद्रिय-संवेदन' (Sensuous Feeling) के बाद आती है।

'उद्वेगों' के भिन्न-भिन्न विभाग किए गए हैं। अस्ल में इनका विभाग करना बहुत कठिन है। कई उद्वेग एक-दूसरे से इतने मिलते हैं कि उनका निश्चित रूप ही ठीक नहीं समझ आता।

मैग्डूगल ने प्राकृतिक शक्तियों के प्रेरक के तौर से जो मुख्य १४ उद्वेग कहे हैं, उनका परिगणन हम पिछले अध्याय में कर आए हैं। इस विभाग के अतिरिक्त 'उद्वेगों' के निम्न तौर से भी विभाग किए जा सकते हैं :—

पहला विभाग 'उद्वेगों' के स्वाभाविक विकास को दृष्टि में रखकर किया जाता है। इस विभाग के अनुसार 'उद्वेग' पाँच प्रकार के हैं—(१) स्वर्थमय उद्वेग, भय, क्रोध, अभिमान आदि। (२) परार्थ-उद्वेग, प्रेम, सम्मान, सहानुभूति आदि। (३) ज्ञानात्मक उद्वेग, विद्यानुराग, सत्य, प्रेम आदि। (४) सौंदर्यात्मक उद्वेग, सौंदर्यानुराग आदि। (५) नैतिक उद्वेग, कर्तव्य-परायणता, ईश्वर-प्रेम आदि।

दूसरा विभाग डा० भगवानदास ने किया है। उनका कहना है कि मुख्य 'उद्वेग' दो हैं—राग तथा द्वेष। राग को प्रेम (Love) कहते हैं, द्वेष को घृणा (Hate)। प्रेम तथा घृणा अपने से बड़े, अपने बराबरवाले तथा अपने से छोटे के प्रति हो सकते हैं। अपने से बड़े के प्रति प्रेम को सम्मान, भक्ति, श्रद्धा, आदर कहते हैं; अपने बराबरवाले से प्रेम को मित्रता, काम, प्रेम कहते हैं; अपने से छोटे के प्रति प्रेम को दया, सहानुभूति आदि कहते हैं। इसी प्रकार अपने से बड़े के प्रति घृणा को भय, घबराहट, डरपोकपन कहते हैं; अपने बराबरवाले से घृणा को क्रोध, वैर-भाव कहते हैं; अपने से छोटे के प्रति घृणा को अभिमान कहते हैं। कई 'उद्वेग' भिन्न-भिन्न उद्वेगों से मिलकर भी बनते हैं।

'उद्वेगों' की क्या विशेषताएँ हैं ? ड्रेवर ने 'उद्वेगों' के संबंध में पाँच विशेषताओं का प्रतिपादन किया है :—

(क). जिस व्यक्ति अथवा विचार के विषय में हमारे अंदर 'उद्वेग' उत्पन्न हुआ है, उसके साथ हमारा संवेदनात्मक संबंध होना चाहिए। उदाहरणार्थ, मट्टी के संबंध में हमारे भीतर कोई उद्वेग नहीं उठता, क्योंकि मट्टी से हमारा संवेदनात्मक कोई संबंध नहीं। अगर वही अपने देश की मट्टी एक डिबिया में भरकर हमें विदेश बैठे कोई भेज दे, तो उसे देखकर उद्वेगों की बाढ़ आ जाती है। उस समय उस मट्टी को देखकर अपने देश की स्मृति ताज़ी हो जाती है, और उसके साथ हमारा संवेदनात्मक संबंध हो जाता है, इसीलिये वह 'उद्वेग' को उत्पन्न कर देती है।

(ख). उद्वेग के समय शरीर में बाहरी तथा भीतरी कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। भय के समय रोंगटे खड़े हो जाना, काँपना ; क्रोध में लाल मुँह हो जाना, होठों का फड़कना ; प्रसन्नता में चेहरे का खिल जाना आदि बाह्य परिवर्तन दिखाई देते हैं। भीतरी परिवर्तनों को देखने के लिये अनेक परीक्षण किए गए हैं। कैनन ने बिल्ली को भोजन कराकर उसपर 'ऐक्स-रे' के परीक्षण किए। बिल्ली का भोजन पेट में पच रहा था, पाचक रस निकल रहा था, इतने में एक कुत्ते को लाया गया, उसने बिल्ली को देखते ही भौंकना शुरू किया, और बिल्ली डर गई। इस डर का यह परिणाम हुआ कि पेट ने पाचक रस निकालना बंद कर दिया, और पेट की सब गतियाँ बंद हो गईं। कुत्ते के

चले जाने के भी १५ मिनट बाद तक बिल्ली की यही हालत रही। तभी उद्वेग के समाप्त हो जाने पर भी कुछ देर तक मनुष्य अपने को ठीक स्थिति में नहीं ला सकता। दफ़्तर में डाँट सुनकर कई लोग जब घर लौटते हैं, तो बच्चों को बिना बात के पीटने लगते हैं। डाँट ख़तम हो गई, परंतु उसका असर अभी तक बना रहता है। भय तथा क्रोध के समय भोजन की संपूर्ण आंतरिक प्रक्रिया बंद हो जाती है। इन उद्वेगों का शरीर के अन्य ग्रंथि-रसों पर भी प्रभाव पड़ता है। दुःख के समय आँसू झरने लगते हैं, क्रोध में पसीना आने लगता है, भय के समय मुँह सूख जाता है, पेट में पाचक रस निकलना बंद हो जाता है। शरीर में कई ग्रंथियाँ ऐसी हैं जिन्हें 'प्रणालिका-रहित ग्रंथि' (Ductless glands) कहते हैं। इन ग्रंथियों से जो रस निकलता है, उसमें एक विशेष पदार्थ होता है, जिसे 'हौरमोन' (Hormones) कहते हैं। ये 'हौरमोन' शरीर को शक्ति देते हैं। गुर्दे के पास दो 'प्रणालिका-रहित ग्रंथियाँ' होती हैं, जिन्हें 'एड्रेनल्स' कहते हैं। क्रोध तथा भय के समय इनमें से एक 'हौरमोन' निकलने लगता है, जिसे 'एड्रिनेलीन' कहते हैं। 'एड्रिनेलीन' से हृदय शीघ्र गति करने लगता है, रुधिर तेज़ चलने लगता है, और साँस का वेग बढ़ जाता है। भिन्न-भिन्न उद्वेगों में शरीर के बाहरी तथा भीतरी भागों पर ऐसा असर पड़ता है, जिसे आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता।

'उद्वेगों' के समय इन परिवर्तनों को देखकर जेम्स ने अपना

एक सिद्धांत स्थिर किया था, जिसे 'जेम्स-लैंग सिद्धांत' (James-Lange Theory) का नाम दिया गया है। जेम्स तथा लैंग ने स्वतंत्र रूप से इस सिद्धांत को १८८० में निकाला था। जेम्स का कहना यह है कि 'उद्वेग' का कारण, उद्वेग के समय शरीर में जो भीतरी तथा बाहरी परिवर्तन हो जाते हैं, वे हैं। शेर को सामने देखकर शरीर में रोंगटे खड़े हो जाते हैं, पसीना छूटने लगता है। हमारा डरना शेर को देखकर नहीं होता, शरीर के रोंगटों के खड़े होने तथा पसीना छूटने को हम 'डरना' कहते हैं। साधारण विचार तो यह है कि शेर को देखकर हम डरे, डर से शरीर के रोंगटे खड़े हुए; 'जेम्स-लैंग सिद्धान्त' यह है कि शेर को देखकर शरीर के रोंगटे खड़े हुए, और रोंगटों को अनुभव करने से भय उत्पन्न हुआ। जेम्स का सिद्धांत प्रचलित विचार से उल्टा है। उसका कहना है कि इस सिद्धांत का शिक्षा में बहुत उपयोग है। अगर हम उद्वेगों से उत्पन्न होनेवाले शारीरिक परिवर्तनों को न होने दें, तो उद्वेग क़ाबू में आ सकते हैं। क्रोध के समय जो शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं, उन्हें कोई रोक ले, तो वह क्रोध को रोक लेगा; भय के समय के शारीरिक परिवर्तनों को वश में कर लेने से भय उत्पन्न नहीं होगा।

जेम्स के कथन को अगर यह रूप दे दिया जाय कि उद्वेगों के एकदम साथ शारीरिक परिवर्तन होते हैं, तो यह सिद्धांत अधिक युक्ति-युक्त हो जाता है। यह कहना कि शारीरिक परिवर्तन पहले होते हैं, और उद्वेग फिर उत्पन्न होता है, व्यवहार-वाद

(Behaviourism) की चरम सीमा है। सब परीक्षणों में यही देखा गया है कि क्रोध तथा भय के साथ-ही-साथ भीतरी तथा बाहरी परिवर्तन होने प्रारंभ हो जाते हैं।

(ग). उद्वेग के प्रत्येक अनुभव में सुख या दुःख का भाव छिपा रहता है। हम किसी से प्रेम इसलिये करते हैं, क्योंकि उसकी तह में सुख का भाव छिपा होता है; घृणा इसलिये करते हैं क्योंकि उस व्यक्ति अथवा पदार्थ से दुःख का कोई संबंध होता या हो सकता है।

(घ). उद्वेग में विचार-शक्ति काम नहीं कर रही होती, इसलिये वह तीव्र होता है।

(ङ). उद्वेग के समय विचार-शक्ति नहीं रहती, इसलिये भिन्न-भिन्न मार्गों में से किसी एक का चुनाव भी इसमें नहीं होता। क्रोध की अवस्था में मनुष्य यह नहीं सोच सकता कि इस बात का निपटारा फिर कर लूँगा, किसी को बीच में डालकर इस समस्या को हल करूँगा, इत्यादि। वह उद्वेग में, जो विचार सामने आ जाता है, वही कर डालता है।

शिक्षा की दृष्टि से उद्वेगों का बड़ा महत्त्व है। ये जीवन में कार्य-शक्ति का संचार करते हैं। मनुष्य जितना ही उद्वेग के निकट पहुँचता है, उतना ही संकल्प को क्रिया में परिणत करने के नजदीक पहुँच जाता है। जिन लोगों ने बड़े-बड़े काम किए हैं, उनकी कृतकार्यता का स्रोत कोई-न-कोई उद्वेग रहा है। उद्वेगों को जीवन में से निकाल देना प्रेरणा-शक्ति को नष्ट कर देना है।

प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध यह ठीक आक्षेप किया जाता है कि इसमें पढ़ाई-लिखाई बहुत है, परंतु बालक के उद्वेगों के विकास तथा संगठन पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता। हमारे बालक शारीरिक उद्योग को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, पढ़ने-लिखने के बाद माता-पिता की उपेक्षा करने लगते हैं, देश के प्रति उदासीन रहते हैं, यह अवस्था शोचनीय है।

३. 'स्थायी भाव' (Sentiments)

पहले 'उद्वेग' (Emotion) तथा 'स्थायी भाव' (Sentiment) में कोई भेद नहीं समझा जाता था। मनोवैज्ञानिक लोग 'स्थायी भाव' को 'उद्वेग' ही कहते थे। शैंड ने पहले-पहल 'उद्वेग' तथा 'स्थायी भाव' में भेद किया। प्रेम, द्वेष, लज्जा आदि 'उद्वेग' (Emotions) हैं, परंतु जब ये 'उद्वेग' किसी वस्तु, किसी व्यक्ति, किसी विचार, भाव अथवा आदर्श के साथ स्थायी रूप से जुड़ जाते हैं, तब इन्हें 'स्थायी भाव' (Sentiments) कहा जाता है। बच्चे को माता से प्रेम है, क्योंकि वह उसे दूध पिलाती है। अभी यह भाव 'उद्वेग' के दर्जे पर भी नहीं आया। वह कुछ बड़ा होता है, दूध पीना छोड़ देता है, परंतु माता के बिना नहीं रह सकता। इस समय उसमें 'उद्वेग' उत्पन्न हो गया है। वह उद्वेग बढ़ता जाता है, रोज़ के अभ्यास से दृढ़ होता जाता है। अतः 'स्थायी भाव' के उत्पन्न होने में पहली बात यह है कि वह एक ही 'उद्वेग' के किसी वस्तु या व्यक्ति के साथ बार-बार जुड़ते रहने से उत्पन्न हो सकता है। अब बालक कॉलेज में

पढ़ने योग्य हो गया। वह दूर किसी शहर के कॉलेज में दाखिल हो जाता है। वहाँ बैठे एक दिन संध्या के समय उसे अपनी माँ की याद आ जाती है, उसकी आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़ते हैं। यह 'स्थायी भाव' के कारण है। परंतु बालक का अपनी माता के विषय में जो स्थायी भाव उत्पन्न हो गया है, उसमें प्रेम का बार-बार का अनुभव ही कारण नहीं है। माता के उस प्रेम में अन्य भी कई 'उद्वेग' शुरू से ही जुड़ते गए हैं। जब वह छोटा था, तो माँ उसकी रक्षा करती थी, इसलिये बच्चा उसके प्रति 'कृतज्ञता' का भाव अनुभव करता था; उस समय माँ उसकी तारीफ़ करती थी, इसलिये उसमें 'आत्माभिमान' उत्पन्न होता था। ये सब 'उद्वेग' धीरे-धीरे जुड़ते चले गए, संगठित होते गए, एक ही दिशा में बढ़ते गए और कई वर्षों के बाद 'प्रेम', 'कृतज्ञता', 'आत्माभिमान' तथा 'सहानुभूति' के उद्वेगों ने मिलकर पुत्र में माता के प्रति प्रेम के 'स्थायी भाव' को उत्पन्न कर दिया। यह 'स्थायी भावों' के उत्पन्न होने में दूसरी बात है। इसका मतलब यह नहीं कि प्रत्येक 'स्थायी भाव' में कई उद्वेग संगठित रूप से अवश्य ही पाए जायँगे, हो सकता है कि एक ही 'उद्वेग' बार-बार के अनुभव से 'स्थायी भाव' बन जाय। 'स्थायी भाव' तब उत्पन्न होता है, जब 'उद्वेग' किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा विचार के इर्द-गिर्द इकला या अन्य उद्वेगों के साथ मिलकर संगठित हो जाता है। एक बालक को अपने जन्म के मकान के साथ विशेष प्रेम हो जाता है, दूसरे को उसी मकान के साथ घृणा का

भाव भी हो सकता है, तीसरे को उसके प्रति कोई भाव नहीं होता। बालक को किसी खास शिक्षक के प्रति प्रेम हो सकता है, भय हो सकता है, घृणा भी हो सकती है। इसी प्रकार सफ़ाई, सादगी, न्याय, सच्चाई आदि के लिये बालकों में प्रेम, श्रद्धा आदि उत्पन्न हो सकते हैं। स्थायी भावों की रचना में तीसरी बात यह है कि वे जन्म से नहीं आते। जन्म से तो प्राकृतिक शक्तियाँ (Instincts) आती हैं, और शुरू-शुरू में बालक का सारा व्यवहार उन्हीं के अधीन रहता है। परंतु बालक के मानसिक विकास के हो जाने पर उसका व्यवहार 'प्राकृतिक शक्तियों' के अधीन नहीं रहता, तब उसका व्यवहार 'स्थायी भावों' के अधीन हो जाता है। प्राकृतिक शक्तियाँ 'मानसिक रचना' (Mental Structure) का हिस्सा होती हैं, उसकी बनावट में ओत-प्रोत होती हैं, इसलिये बालक को अपने वश में रखती हैं; इसी प्रकार मनुष्य में 'स्थायी भाव' भी उसकी मानसिक रचना के अभिन्न अवयव बन जाते हैं, उसकी बनावट में ओत-प्रोत हो जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि जैसे बचपन में हम 'प्राकृतिक शक्तियों' (Instincts) के अधीन थे, वैसे बड़े होकर 'स्थायी भावों' (Sentiments) के अधीन हो जाते हैं।

'स्थायी भावों' का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है? 'संवेदन' के प्रकरण में हमने कहा था कि संवेदन दो प्रकार का होता है, 'इंद्रिय-संवेदन' तथा 'भाव-संवेदन'। शुरू-शुरू में बालक उन्हीं पदार्थों के विषय में संवेदन कर सकता है जो

इंद्रिय-ग्राह्य हैं, स्थूल हैं, देखे तथा स्पर्श किए जा सकते हैं। यह मानसिक विकास की पहली अवस्था है। इसमें किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करने के लिये बालक के सामने पदार्थ का होना जरूरी है। इस अवस्था तक 'स्थायी भाव' की उत्पत्ति नहीं होती। मानसिक विकास की दूसरी सीढ़ी 'भाव-संवेदन' है। इसमें स्थूल विषय के सामने न रहते हुए भी उस वस्तु का विचार ही प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त होता है। यह अवस्था पहली अवस्था के बाद आती है, और उससे ऊँची है। मानसिक विकास की इस दूसरी अवस्था में ही 'स्थायी भाव' उत्पन्न होता है, पहली अवस्था में नहीं। दूसरी अवस्था के बाद मानसिक विकास की तीसरी अवस्था 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' की आती है, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे।

'स्थायी भावों' के निर्माण के लिये दो बातों का होना आवश्यक है :—

(क). क्योंकि मानसिक विकास की दूसरी सीढ़ी पर ही 'स्थायी भाव' उत्पन्न हो सकता है, इसलिये 'स्थायी भाव' के निर्माण में पहली बात यह है कि मनुष्य में पदार्थ को समझने की शक्ति हो जाय, उसका पदार्थ के विषय में ज्ञान कहने-सुनने से ही प्राप्त न हुआ हो, परंतु वह उसे देख चुका हो, समझ चुका हो, खूब अच्छी तरह से जान-बूझ चुका हो। अगर ठीक तरह के जाना-बूझा न होगा, तो 'स्थायी भाव' किस चीज़ के प्रति होगा, अज्ञात या अस्पष्ट-ज्ञात वस्तु के प्रति 'स्थायी भाव' नहीं होता।

(ख). उस पदार्थ के इर्द-गिर्द किसी एक अथवा अनेक उद्वेगों (Emotions) का संगठन होना भी आवश्यक है। अगर किसी पदार्थ के विषय में ज्ञान पूरी तरह से हो गया है परंतु उसके साथ हमारा कोई उद्वेगात्मक संबंध नहीं हुआ, तो उस पदार्थ के विषय में हममें कोई 'स्थायी भाव' नहीं होगा। 'स्थायी भाव' बड़ी भारी मानसिक शक्ति है। जिस बात के विषय में 'स्थायी भाव' बन जाता है, वह कितनी ही छोटी हो, जीवन को मानो घेर लेती है। इसलिये शिक्षक का यह कर्तव्य है कि बालकों के स्थायी भावों को भावात्मक विचारों के साथ जोड़ने का प्रयत्न करे। उदाहरणार्थ, न्याय, सत्य, ईमानदारी आदि भावात्मक विचार हैं। अगर इन विचारों के साथ बालक के स्थायी भाव उत्पन्न हो जायँ, तो जीवन में वह न्याय से प्रेम करनेवाला, सत्य पर दृढ़ रहनेवाला तथा ईमानदार आदमी बन जायगा, इसके विपरीत अगर इन विचारों के साथ कोई स्थायी भाव न हों, तो न्याय के मौक़े पर वह अन्याय कर बैठेगा, सत्य बोलने के स्थान पर झूठ बोलने से नहीं झिझकेगा।

परंतु प्रश्न यह है कि इन सूक्ष्म विचारों के साथ स्थायी भाव किस प्रकार उत्पन्न किए जायँ? बालकों को शिक्षा देनेवाले जानते हैं कि स्थूल पदार्थों के साथ उनके स्थायी भावों को आसानी से उत्पन्न किया जा सकता है। संसार का नियम ही स्थूल से सूक्ष्म की तरफ़ जाना है। शिक्षक बड़ी आसानी से स्थूल पदार्थों के साथ बालक के स्थायी भावों को उत्पन्न कर सकता है।

जब उनके साथ बालकों के स्थायी भाव उत्पन्न हो जायँ, तो उन्हें स्थूल से सूक्ष्म भावों के साथ जोड़ देने का ही काम रह जाता है। स्थायी भाव को पहले 'विशेष' से जोड़ा जाता है, फिर 'सामान्य' से, और उसके बाद 'भावात्मक विचार' से। उदाहरणार्थ, हमने बालकों के हृदय में 'सत्य' के प्रति स्थायी भाव को उत्पन्न करना है। इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उन्हें राजा हरिश्चंद्र की कहानी सुनाई जाय। वे कहानी के हरिश्चंद्र से प्रेम करने लगेंगे, ऐसे हरिश्चंद्र से जो सच्चा था, जिसने सच के लिये अपने राज तक को ठुकरा दिया। इसके बाद वे उन सब से प्रेम करने लगेंगे जो हरिश्चंद्र-सरीखे सत्यवादी हों, धार्मिक हों। जब हरिश्चंद्र तथा उस-सरीखे अन्य सत्य-वादियों के विषय में बालकों का स्थायी भाव बन जाय, तब शिक्षक कह सकता है, आखिर, हरिश्चंद्र तथा उस-सरीखे दूसरे महापुरुष इसीलिये तो इतने महान् थे क्योंकि वे 'सत्य' पर दृढ़ रहे। इस प्रक्रिया से बालकों में 'सत्य' के भावात्मक विचार के लिये श्रद्धा, प्रेम आदि का स्थायी भाव उत्पन्न हो जाता है। यह प्रक्रिया खुद-ब-खुद रोज हमारे जीवन में काम करती हुई दीख भी पड़ती है। एक अध्यापक बालक को पीटता है, बालक को अध्यापक से घृणा उत्पन्न हो जाती है। अध्यापक पढ़ाता तो अच्छा है, परंतु वह घृणा उसके विषय के साथ भी हो जाती है, जिसे वह अध्यापक पढ़ाता है। बढ़ते-बढ़ते, कई बार उस स्कूल के प्रति घृणा हो जाती है जिसमें वह अध्यापक था। स्थूल से सूक्ष्म की तरफ़ मन अपने-आप जाता

रहता है। मन की इस प्रक्रिया का शिक्षक को लाभ उठाना चाहिए और इतिहास, भूगोल, साहित्य आदि विषयों को पढ़ाते हुए देश-भक्ति, न्याय, सेवा, समाज-सुधार आदि बातों के लिये उसमें 'स्थायी भाव' उत्पन्न करते रहना चाहिए।

'स्थायी भाव' तथा 'आदत' में भेद है। एक बालक को लोटा साफ़ रखने की आदत है। वह लोटे को ख़ूब माँजता है, जब कभी उसके हाथ में लोटा पड़ता है, वह उसे माँजकर ख़ूब चमका देता है। परंतु यह ज़रूरी नहीं कि लोटा साफ़ रखने की आदत के कारण उसमें सफ़ाई की भी आदत हो, वह हरएक वस्तु को सफ़ा रक्खे। सफ़ाई की आदत तब पड़ती है जब सफ़ाई के साथ बालक के हृदय में 'स्थायी भाव उत्पन्न' हो जाता है। इस दृष्टि से शिक्षक का कर्तव्य है कि 'आदत' तथा 'स्थायी भाव' में भेद करे, और बालक में किसी बात के लिये 'आदत' डालने के बजाय उस बात के लिये 'स्थायी भाव' उत्पन्न करे।

४. 'आत्म-सा[illegible] का स्थायी भाव'

हमने अभी कहा था कि मानसिक विकास की तीन सीढ़ियाँ हैं। इनमें से दो—'इंद्रिय-संवेदन' तथा 'भाव-संवेदन'—का वर्णन हम कर चुके हैं। इन दोनो के बाद तीसरी सीढ़ी क्या है? 'भाव-संवेदन' अथवा 'उद्वेग' में स्थूल पदार्थ की अनुपस्थिति में भी उद्वेग किसी भाव या विचार के साथ अपने को संबद्ध कर लेता है, जोड़ लेता है। हम बहुत अच्छे खिलाड़ी हैं। खेल के साथ हमारा 'स्थायी भाव' बन चुका है। हम अख़बार पढ़ते हैं, तो

खेल-विषयक समाचारों की 'जिज्ञासा' के लिये; किसी की प्रशंसा करते हैं, तो खिलाड़ियों की; सहानुभूति प्रकट करते हैं, तो अच्छा खेलने परंतु फिर भी हार जानेवालों के साथ। हमारी संपूर्ण मानसिक रचना, हमारे संपूर्ण भाव तथा उद्वेग खेल ही के आस-पास चक्कर काटते हैं, हम उसी के लिये मानो रह गए हैं, और किसी चीज़ के लिये नहीं। इसी प्रकार ऐसा भी हो सकता है कि एक दूसरे व्यक्ति के जीवन में अन्य ही कोई 'स्थायी भाव' बना हुआ है, और उसकी एक-एक क्रिया उसी 'स्थायी भाव' से चलती है। हमारे ही जीवन में कई 'स्थायी भाव' हो सकते हैं। तो क्या इन 'स्थायी भावों' का आपस में कोई संबंध नहीं? इन्हें आपस में जोड़नेवाला कोई इनसे भी बड़ा भाव हममें नहीं है? हमने 'प्राकृतिक शक्तियों' के अध्याय को प्रारंभ करते हुए कहा था कि आधारभूत प्राकृतिक शक्तियाँ तीन हैं। 'नेमे', 'हौर्मे', तथा 'संबंध-शक्ति'। मानसिक प्रक्रिया में 'संबंध-शक्ति' बड़े महत्त्व की है। 'स्थायी भाव' भी तो तभी पैदा होता है जब भावों का परस्पर संबंध स्थापित हो जाता है, वे आपस में स्थायी रूप से जुड़ जाते हैं। तो हमारे स्थायी भावों को आपस में जोड़नेवाला सूत्र कौन-सा है? स्थायी भाव (Sentiment) तो भिन्न-भिन्न उद्वेगों (Emotions) को जोड़ता है, उनका राजा है; प्रश्न यह है कि भिन्न-भिन्न स्थायी भावों को कौन जोड़ता है, इनका कौन राजा है? बस, बालक में स्थायी भावों के भी सूत्र, इनके भी राजा, इनके भी शासक 'भाव' का उत्पन्न हो जाना ही मानसिक विकास की तीसरी सीढ़ी है।

यह 'शासक स्थायी भाव' कैसे उत्पन्न होता है? पहले कहा जा चुका है कि जब उद्वेग किसी 'विषय' के साथ जुड़ जाते हैं तब स्थायी भाव उत्पन्न होता है। इस 'शासक स्थायी भाव' को उत्पन्न करने के लिये भी उन्हें किसी ऐसे 'विषय' के साथ जुड़ जाना चाहिए। वह विषय 'स्व' (Self) है। 'स्व' का अर्थ अपना आत्मा, 'मैं' है। मैग्डूगल का कहना है कि 'स्व' के साथ, 'आत्मा' के साथ, 'अपने' साथ जब स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते हैं, तो स्थायी भावों का राजा 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' (Self-regarding Sentiment) उत्पन्न हो जाता है, और तब से मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार का शासक यही भाव बन जाता है।

परंतु 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' कैसे उत्पन्न हो जाता है? हमने अभी कहा कि 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' की रचना में 'स्व' आधार बनता है, उसके चारों तरफ़ स्थायी भाव जुड़ने लगते हैं। परंतु 'स्व' का ज्ञान बालक को कैसे होता है? बालक अपने चारों तरफ़ अनेक चीज़ें देखता है। वह ख़ुद देखता, सुनता और बोलता है। शुरू-शुरू में वह समझता है कि ये पदार्थ भी उसी की तरह देखते, सुनते वा बोलते हैं। वह बैठा-बैठा अपने खिलौनों के साथ घंटों बात किया करता है। परंतु धीरे-धीरे उसे ज्ञान होने लगता है कि खिलौना उससे बातें नहीं करता, वह यों ही पड़ा रहता है। इसके विपरीत वह देखता है कि उसकी परिस्थिति में कई ऐसे लोग हैं जो

उसी की तरह बातें करते हैं। इस भेद को देखकर उसके भीतर जड़-चेतन का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। पहले वह खिलौने को भी अपने-सरीखा समझता था, अब वह चलने, फिरने, बोलनेवालों को ही अपने-सरीखा समझने लगता है। उसके ज्ञान की यह पहली अवस्था होती है। अभी तक वह अपने तथा दूसरों में भेद करना नहीं सीखा होता। दूसरी अवस्था में वह इस भेद को सीख जाता है। वह देखता है कि उसकी माँ उसे पुचकारती है, उसका पिता उसे चीज़ें लाकर देता है। बालक भी अपने से छोटे बच्चे को पुचकारने लगता है, उसे चीज़ें लाकर देता है। माता-पिता उसके प्रति जैसा व्यवहार करते हैं, अपने से छोटों के प्रति वह भी वैसा व्यवहार करने लगता है। इस अवस्था में उसमें 'स्व'-'पर' का भाव उत्पन्न हो जाता है। वह अपने-आपको 'स्व' समझने लगता है, दूसरों को 'पर', तभी तो वह अपने से छोटों के साथ वैसा व्यवहार करता है जैसा माता-पिता उसके साथ करते हैं। जब बालक में 'स्व' का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब इसके साथ स्थायी भाव जुड़ने लगते हैं, और 'स्व' के ज्ञान के विकास के साथ-साथ 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' का धीरे-धीरे निर्माण होने लगता है। 'स्व' के साथ 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' कैसे जुड़ता है ? 'स्व' अपने आपको दो भागों में बाँट लेता है : 'द्रष्टा' (I) और 'दृश्य' (Me)। पहले वह 'द्रष्टा' (I) के रूप में हरएक चीज़ को देखता है, और अपनी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को अच्छा या बुरा कहता है। परंतु

सामाजिक व्यवहार से उसे अनुभव होने लगता है कि दूसरे भी उसके विषय में अपने विचार रखते हैं, उसके व्यवहार के अच्छा या बुरा होने के विषय में अपना निर्णय देते हैं। दूसरों की इस दृष्टि के सम्मुख वह 'दृश्य' (Me) बन जाता है। वह सोचने लगता है कि मैं ही दूसरों के विषय में अपनी राय नहीं देता, दूसरे भी मेरे विषय में अपनी राय देते हैं। पहले दूसरे ही उसे 'दृश्य' बनाते थे, अब वह अपने लिये ही 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' दोनो बन जाता है। अब वह दूसरों की अपने विषय में सम्मति को अपने लिये माप बना लेता है, उसी के अनुसार बनने का प्रयत्न करता है, उसका 'दृश्य स्व' उसके लिये 'आदर्श स्व' बन जाता है। इस अवस्था में दूसरे उसके विषय में जो सम्मति रखते हैं उन्हीं के प्रकाश में वह अपना 'आदर्श स्व' बना लेता है, और वह 'आदर्श स्व' ही उसके प्रत्येक कार्य का शासक बन जाता है। जब यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है तब 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' उत्पन्न हो जाता है। अब वह स्वयं 'द्रष्टा' बनकर अपने प्रत्येक कार्य की अपने 'दृश्य स्व' अथवा 'आदर्श स्व' के माप से आलोचना करता है। अगर उसमें कोई बुरे भाव उत्पन्न हो रहे हैं, तो वह सोचता है कि मेरे साथी, मेरे माता-पिता, गुरु मुझे देखकर क्या कहेंगे, उन्होंने मेरी जो कल्पना कर रक्खी है उसके मैं प्रतिकूल जा रहा हूँ, मैं यह काम नहीं करूँगा, यह बात करना मेरे लिये ठीक नहीं है। इस प्रकार की मानसिक प्रक्रिया इसलिये होती है कि इस बालक में 'आत्म-

सम्मान का स्थायी भाव' बन चुका होता है, वह अपने 'दृश्य स्व' के साथ प्रेम करने लगता है। शिक्षक की दृष्टि से बालक में 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' का निर्माण बड़ा आवश्यक है। बालक में जो भी 'आदर्श स्व' की कल्पना हुई है, वह माता-पिता, साथी तथा गुरुओं के द्वारा ही उत्पन्न की हुई है। 'स्व' के विषय में ऊँची कल्पना उत्पन्न करने के स्थान पर वे नीचा भाव भी उत्पन्न कर सकते हैं। अगर किसी बालक को सदा झूठा कहा जायगा, तो उसके 'स्व' की कल्पना यही हो जायगी कि मैं झूठा हूँ। वह अगर झूठ बोलेगा, तो झिझकेगा नहीं, क्योंकि वह सोचेगा, मैं झूठा तो हूँ ही, मेरे माता-पिता मुझे झूठा कहते हैं, मेरे गुरु मुझे झूठा कहते हैं, मैं झूठ ही बोल सकता हूँ, सच नहीं बोल सकता। जिस बालक में 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' उत्पन्न हो जाता है, वह जीवन में गिरता नहीं, उठता ही जाता है, वह ऐसा ही काम करता है, जो उसके आत्मा को ऊँचा उठाता है। अगर वह गिरने लगाता है, तो वह अपने को ही संबोधन करके पूछता है, क्या ऐसा करना मुझे शोभा देता है? उसके शिक्षक भी उसे उल्टे रास्ते पर जाते देखकर कहते हैं, यह तुम्हें शोभा नहीं देता! उस समय 'आदर्श स्व' को सामने रखकर, उसके माप से, उसके मुक़ाबिले में ही कहा जाता है, 'मुझे शोभा नहीं देता', या 'तुम्हें शोभा नहीं देता।' इस 'आदर्श स्व' के प्रति प्रेम, सम्मान का भाव उत्पन्न कर देना, अर्थात् 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' को उत्पन्न कर देना शिक्षक का सबसे मुख्य कर्तव्य है।

अष्टम अध्याय

'व्यवसाय', 'चरित्र' तथा 'विषम जाल'

१. 'व्यवसाय' (Will)

'कृति'-शब्द का विस्तृत अर्थों में भी प्रयोग होता है। इसमें शरीर तथा मन की सब प्रकार की चेष्टाएँ आ सकती हैं। आँख के फड़कने से लेकर देश के राज्य करने तक सब 'कृति' में आ सकता है। परंतु 'व्यवसाय'-शब्द इतना विस्तृत नहीं। 'कृति' में ऐच्छिक (Voluntary) तथा अनैच्छिक (Involuntary) क्रियाएँ सब समाविष्ट हो सकती हैं; 'व्यवसाय' (Will) में केवल ऐच्छिक क्रियाएँ गिनी जाती हैं। हम यहाँ पर 'अनैच्छिक क्रियाओं'—सहज-क्रिया (Reflex Action), प्राकृतिक-क्रिया (Instinctive Action), विचार-क्रिया (Ideo-motor Action)—का वर्णन न करके केवल 'ऐच्छिक क्रिया' का वर्णन करेंगे।

'व्यवसाय' (Will) ऐच्छिक क्रिया है। 'व्यवसाय' का प्रारंभ 'ज्ञान' से होता है। जिस वस्तु के विषय में हमें ज्ञान नहीं, जिसका हमें पता नहीं कि वह क्या है, उसके विषय में 'व्यवसाय' क्या हो सकता है? 'ज्ञान' के बाद दूसरी वस्तु 'इच्छा' (Desire) है। यह हो सकता है कि हमें किसी वस्तु का ज्ञान

हो, परंतु उसके विषय में कोई इच्छा न हो। 'व्यवसाय' तभी होगा जब उस वस्तु के ज्ञान के साथ इच्छा भी रहेगी। परंतु इतना भी काफ़ी नहीं है। हो सकता है, हमें किसी वस्तु का ज्ञान हो, उसके लिये इच्छा भी हो, किंतु वह दुष्प्राप्य हो। इसलिये 'व्यवसाय' के उत्पन्न होने में तीसरी शर्त यह भी है कि 'ज्ञान' तथा 'इच्छा' के साथ हमें यह भी 'विश्वास' हो कि वह वस्तु हमें प्राप्त हो सकती है, वह हमारे लिये दुष्प्राप्य नहीं है। जब ये तीनो बातें होंगी, तब 'व्यवसाय' हो सकता है।

'व्यवसाय' में मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया क्या होती है? हमारे मन में कोई 'प्रयोजन' (Purpose) होता है। अगर एक ही प्रयोजन हो, तब तो कोई कठिनाई नहीं होती। 'प्रयोजन' ख़ुद-ब-ख़ुद क्रिया में परिणत हो जाता है। परंतु अक्सर ऐसा नहीं होता कि मन में एक ही प्रयोजन हो। होता यह है कि मन में एक प्रयोजन है, परंतु उस प्रयोजन के क्रिया में परिणत होने में अनेक रुकावटें भी मौजूद हैं। सबसे बड़ी रुकावट यह होती है कि मन में कई परस्पर-विरुद्ध 'प्रयोजन' (Purposes) उत्पन्न हो जाते हैं, और उनके पारस्परिक संग्राम में हम यह निश्चय नहीं कर पाते कि किस प्रयोजन को पूरा करें, और किसे न करें। यह द्विविधा की अवस्था होती है। इस अवस्था में 'व्यवसाय'-शक्ति (Will) निर्णय कर देती है। यह निर्णय कैसे होता है? द्विविधा की अवस्था देर तक नहीं बनी रह सकती। मनुष्य किसी निश्चय पर पहुँचना चाहता है। निश्चय पर पहुँचने के लिये

'प्रयत्न' (Effort) करना पड़ता है। 'द्विविधा' (Conflict) की अवस्था में 'प्रयत्न' (Effort) द्वारा ही किसी एक मार्ग को चुना जाता है। 'प्रयत्न' द्वारा मनुष्य में साधारण अवस्था की अपेक्षा कुछ अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, और उस शक्ति द्वारा वह किसी एक तरफ़ निश्चय कर देता है। मन में कई 'प्रयोजन' उत्पन्न न हों, तो द्विविधा की अवस्था भी न हो; 'द्विविधा' की अवस्था न हो, तो प्रयत्न न हो; 'प्रयत्न' न हो, तो व्यवसाय न हो, निश्चय की अवस्था उत्पन्न न हो; 'व्यवसाय' न हो, तो कोई काम न हो। इसी भाव को यों भी कह सकते हैं कि किसी विचार को व्यवसाय तक पहुँचने के लिये चार प्रक्रियाओं में से गुज़रना ज़रूरी है:—

(१). पहले विचारों का संग्रह होना आवश्यक है। जिस काम को हम क्रिया में परिणत करना चाहते हैं, उसके अनुकूल-प्रतिकूल सब बातों का ज्ञान ज़रूरी है ।

(२). इसके बाद हम अनुकूल तथा प्रतिकूल पक्ष की एक-एक युक्ति को लेकर विचार करते हैं। अनुकूल युक्तियाँ भी काफ़ी मिल जाती हैं, प्रतिकूल भी काफ़ी। विचार-संघर्ष की इस अवस्था में द्विविधा उत्पन्न हो जाती है। हम न यह कर सकते हैं, न वह कर सकते हैं। इस समय या तो हम सोचना छोड़-कर कोई तीसरा ही काम हाथ में ले सकते हैं, या विचारों के संग्रह में से किसी एक को चुन सकते हैं।

(३). इस प्रकार किसी एक विचार को चुन लेना तीसरा क़दम है।

(४). चुनने के बाद मनुष्य संकल्प कर लेता है, और विचार क्रिया में परिणत हो जाता है।

'व्यवसाय' की उक्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को समझने के लिये हम एक दृष्टांत ले लेते हैं। हम बिस्तर पर पड़े सो रहे हैं। सुबह हो गई। आँख खुली। काम में जुट जाने का वक़्त है। एक भाव सामने आता है, उठो, मुँह-हाथ धोकर तैयार हो जाओ। परंतु सर्दी बहुत पड़ रही है, कौन उठे, बिस्तरे में तो खूब गर्मी है, आनंद से लेट रहो। इन दो परस्पर-विरुद्ध प्रयोजनों (Purposes) के मन में उत्पन्न हो जाने पर संग्राम छिड़ जाता है। दोनो पक्षों के अनुकूल तथा प्रतिकूल युक्तियाँ आती हैं। एक विचार कहता है, आलसी मत बनो, कर्तव्य का पालन करो; दूसरा कहता है, इतनी जल्दी क्या है, कुछ देर में काम कर लेना। इस विचार-संघर्ष में कर्तव्य का विचार प्रबल हो उठता है, और हम बिस्तर छोड़कर खड़े हो जाते हैं। परंतु सदा कर्तव्य का विचार ही प्रबल हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है। प्रायः कर्तव्य का विचार निर्बल रहता है, आलस्य का विचार प्रबल रहता है। ऐसी अवस्था में 'प्रयत्न' के द्वारा साधारण की अपेक्षा अधिक शक्ति उत्पन्न करने की ज़रूरत पड़ती है, तब जाकर कहीं आलस्य के भावों को दबाया जा सकता है। इस प्रकार 'प्रयत्न' (Effort) की सहायता से निर्बल भावों को प्रबल और प्रबल को निर्बल बनाया जा सकता है। जेम्स ने इसी बात को गणित की परिभाषा में यों प्रकट

किया है कि 'उच्च आदर्श' को क्रिया में परिणत करने की भावना के साथ अगर 'प्रयत्न' न जोड़ा जाय, तो उसकी शक्ति 'स्वाभाविक प्रवृत्ति' से कम रहती है; परंतु अगर 'उच्च आदर्श' के साथ 'प्रयत्न' जोड़ दिया जाय, तो उसकी शक्ति 'स्वाभाविक प्रवृत्ति' से बहुत ज्यादा हो जाती है। 'स्वाभाविक प्रवृत्ति' का मार्ग आसान मार्ग है, उसमें कोई रुकावट नहीं, कोई कठिनाई नहीं। इसलिये अगर 'प्रयत्न' द्वारा शक्ति-संग्रह न किया जाय, तो मनुष्य न्यूनतम बाधा के मार्ग का अवलंबन करेगा। परंतु 'प्रयत्न' अथवा 'व्यवसाय' द्वारा वह अधिकतम बाधा के मार्ग का अवलंबन करता है, और कृत्कार्यता से उसे पार कर लेता है।

परंतु 'प्रयत्न' के द्वारा साधारण की अपेक्षा अधिक शक्ति कैसे उत्पन्न हो जाती है? कई लोगों का कहना है कि 'प्रयत्न' (Effort), 'व्यवसाय' (Will) का गुण है, और 'व्यवसाय' द्वारा ही 'प्रयत्न' में साधारण की अपेक्षा अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। परंतु व्यवसाय में इस प्रकार का गुण कहाँ से आया? 'व्यवसाय' में यह शक्ति 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' (Self-regarding Sentiment) से आती है। कल्पना कीजिए कि एक बालक में 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' उत्पन्न हो चुका है। वह कक्षा में सदा प्रथम रहा है। उसका इम्तिहान भी नज़दीक है। इन्हीं दिनों शहर में एक नाटक हो रहा है। उसकी चारो तरफ़ बड़ी धूम है। यह बालक सोचता है, मैं भी देख आऊँ, फिर नाटक-कंपनी चली जायगी। प्रलोभन बड़ा जबर्दस्त है।

परंतु उसके साथी यह आशा करते हैं कि वह इम्तिहान में पहला आएगा। वह सोचता है, अगर मैं नाटक देखने गया, तो तैयारी ठीक से न कर सकूँगा। 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' नाटक न देखने की निर्बल भावना को प्रबल बना देता है, और वह नाटक देखने नहीं जाता। इस प्रकार 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' 'प्रयत्न' में साधारण को अपेक्षा अधिक शक्ति को उत्पन्न कर देता है। उच्च आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने में 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' का बड़ा महत्त्व है।

'व्यवसाय' के विषय में जो बातें कही गई हैं, शिक्षा की दृष्टि से बड़ी आवश्यक हैं। कोई भी विचार तब तक क्रिया में परिणत नहीं होता जब तक उसका 'प्रयोजन' (Purpose) नहीं होता। इसी प्रकार बालक के सम्मुख जब तक 'प्रयोजन' (Purpose) न हो तब तक वह योंही समय बिताता है। जब कोई काम करना हो, तो प्रयोजन, उद्देश्य या लक्ष्य का बना लेना सब से ज्यादा आवश्यक है। प्रयोजन होगा तो रुचि भी होगी, अवधान भी होगा, व्यवसाय भी होगा ; प्रयोजन नहीं होगा, तो रुचि भी नहीं होगी, ध्यान भी नहीं लगेगा, काम भी कुछ नहीं होगा। यही मनोवैज्ञानिक सत्य 'प्रोजेक्ट पद्धति' के आधार में है।

२. चरित्र (Character)

हम पहले देख चुके हैं कि 'प्राकृतिक शक्तियाँ' जन्म-सिद्ध हैं, और वे बालक की प्रत्येक क्रिया को प्रेरित करती हैं। चरित्र भी बालक की प्रत्येक क्रिया को प्रेरित करता है, परंतु यह जन्म-

सिद्ध (Innate) नहीं है, अर्जित (Acquired) है। बालक का 'प्राकृतिक व्यवहार' (Instinctive Behaviour) तो 'प्राकृतिक शक्तियों' (Instincts) के द्वारा प्रेरित होता है, परंतु ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों प्राकृतिक व्यवहार की जगह वह व्यवहार आता जाता है, जिसे वह माता-पिता, साथियों, गुरुओं तथा समाज से सीखता है। इसी को 'चरित्र' कहते हैं। 'चरित्र' में 'आदत' का अंश भी रहता है। मनुष्य को एक ख़ास प्रकार की परिस्थिति में एक ख़ास ढंग के व्यवहार करने की 'आदत' पड़ जाती है। इसलिये कई लोग 'चरित्र' (Character) को 'आदतों का समूह' (Bundle of Habits) कहते हैं। परंतु 'चरित्र' 'आदतों' के अतिरिक्त भी बहुत-कुछ है। 'आदत' यांत्रिक होती है; जैसी आदत पड़ जाय, वैसा करने को मनुष्य बाधित होता है; 'चरित्र' यांत्रिक नहीं होता। चरित्र में आदत तो होती है, परंतु भिन्न-भिन्न स्थिति में मनुष्य उसी स्थिति के अनुकूल भिन्न-भिन्न व्यवहार कर सकता है। जीवन में एक ही स्थिति बार-बार उत्पन्न नहीं होती। अगर एक ही स्थिति बार-बार उत्पन्न होती हो, तब तो 'आदत' काम दे सकती है। परंतु भिन्न-भिन्न स्थितियों का मुक़ाबला करने के लिये 'चरित्र' ही काम दे सकता है। 'चरित्र' में भिन्न-भिन्न स्थितियों का मुक़ाबला करने की शक्ति कहाँ से आती है? 'स्थायी भावों' से। 'स्थायी भावों' के प्रकरण में हम पहले भी बतला चुके हैं कि उनमें तथा 'आदत' (Habit) में भेद है।

'आदत' का प्रभाव जीवन के किसी एक पहलू पर ही होता है, 'स्थायी भाव' का प्रभाव संपूर्ण जीवन पर होता है। क्योंकि चरित्र को 'स्थायी भावों' से शक्ति प्राप्त होती है, 'आदत' से नहीं, इसलिये चरित्र का जीवन पर प्रभाव स्थायी भावों की तरह का होता है, आदतों की तरह का नहीं।

चरित्र के विकास में तीन क्रम दीख पड़ते हैं। ड्रेवर ने दो दृष्टियों से इसके तीन-तीन विभाग किए हैं। पहली दृष्टि 'संवेदन' (Feeling) की है। 'संवेदन' की दृष्टि से चरित्र के विकास के निम्न तीन विभाग किए गए हैं:—

(क). अपरिपक्व संवेदन की अवस्था (Crude Emotion)

(ख). स्थायी भाव की अवस्था (Sentiment)

(ग). आदर्श उत्पन्न हो जाने की अवस्था (Ideal)

'ज्ञान' (Knowing) की दृष्टि से भी ड्रेवर ने चरित्र के विकास को तीन भागों में बाँटा है। वे विभाग निम्न हैं:—

(क). इंद्रियानुभव की अवस्था (Perceptual)

(ख). भावानुभव की अवस्था (Ideational)

(ग). तर्कानुभव की अवस्था (Rational)

मैग्डूगल ने चरित्र के विकास में चार क्रमों का प्रतिपादन किया है। वे ये हैं:—

(क). सुख-दुःख से निर्धारित चरित्र

(ख). पारितोषिक तथा दंड से निर्धारित चरित्र

(ग). प्रशंसा तथा निंदा से निर्धारित चरित्र

(घ). आदर्श (आत्म-सम्मान के स्थायी भाव) से निर्धारित चरित्र

मनुष्य का चरित्र उक्त चार क्रमों में से गुज़रता हुआ आदर्श तक पहुँचता है। मैग्डूगल ने जिन क्रमों का प्रतिपादन किया है, हम उनकी संक्षेप से व्याख्या करेंगे:—

(क). बालक दूर की नहीं सोच सकता, इसलिये प्रारंभिक अवस्था में उसके चरित्र का निर्धारण उन बातों से ही होता है जिनका उस पर सुख तथा दुःख के रूप में तात्कालिक प्रभाव होता है। वह आग से ख़ुद-ब-ख़ुद बचता है, क्योंकि इससे उसका हाथ जलता है। मिठाई को देखकर उसे मुँह में डाल लेता है, क्योंकि इससे उसे मिठास का आनंद मिलता है। ड्रेवर के वर्गीकरण में यह 'अपरिपक्व संवेदन' तथा 'इंद्रियानुभव' की अवस्था है।

(ख). इसके बाद बालक के विकास में वह अवस्था आती है जब कि उसके चरित्र का निर्धारण सुख-दुःख की प्राकृतिक शक्तियों पर ही नहीं रहता, वह शिक्षक के डर से काम करने लगता है। उस डर के साथ पारितोषिक का भाव मिलकर चरित्र-निर्माण में सहायक बनता है। अगर अमुक काम करोगे, तो इनाम मिलेगा, अमुक करोगे, तो दंड मिलेगा। इनाम के लोभ तथा दंड के भय से बालक वैसा ही करता है जैसा शिक्षक उससे कराना चाहता है। शिक्षक पारितोषिक देने के प्रलोभन तथा दंड

के भय से बालक से बहुत-कुछ करा सकता है, परंतु अंत तक इसी व्यवहार का रहना बालक के मानसिक विकास में घातक सिद्ध होने लगता है। वह बिना इनाम या बिना दंड के कुछ करता ही नहीं। ड्रेवर के वर्गीकरण में यह 'स्थायी भाव' अथवा 'भावानुभव' की अवस्था है।

(ग). कुछ देर बाद जब बालक में स्थायी भाव उत्पन्न होने लगते हैं, तब उसके चरित्र का निर्धारण प्रशंसा तथा निंदा से होने लगता है। अब उसे इनाम तथा भय का उतना ध्यान नहीं रहता जितना अपने साथियों तथा गुरुओं की अपने विषय में सम्मति का। जिस बात से वे उसकी प्रशंसा करते हैं, वह उसे करता है; जिससे निंदा करते हैं, उसे नहीं करता। शिक्षक बालक के चरित्र-निर्माण में निंदा तथा प्रशंसा के बहुमूल्य साधन का बड़ी सफलता से प्रयोग कर सकता है। ड्रेवर के वर्गीकरण में यह 'स्थायी भाव तथा भावानुभव' की ही अवस्था है। मैग्डूगल के उक्त दो वर्गों की जगह ड्रेवर ने एक ही विभाग किया है।

(घ). चरित्र-निर्माण में अंतिम अवस्था वह है जब बालक में 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' (Self-regarding Sentiment) उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में युवक सुख वा दुःख, प्रलोभन वा दंड, प्रशंसा वा निंदा, किसी की परवाह नहीं करता। उसके सामने एक आदर्श बन चुका होता है, उस आदर्श के पीछे वह पागल हो जाता है। इस अवस्था में वह कर्तव्य को संसार के प्रत्येक प्रलोभन के पहले स्थान देता है। वह

किसी काम को करता हुआ यह नहीं सोचता कि इसमें सुख होगा या दुःख होगा, लोग प्रशंसा करेंगे या निंदा करेंगे; वह सोचता है, यह काम उसकी आत्मा को शांति देगा या न देगा। 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' उसके जीवन की हरएक क्रिया, हरएक पहलू को प्रभावित करता है, उसके संपूर्ण व्यवहार में यही भाव ओत-प्रोत हो जाता है। चरित्र-निर्माण की यह सबसे ऊँची सीढ़ी है, और इस सीढ़ी तक पहुँचना ही शिक्षा का सबसे बड़ा उद्देश्य है। जब चरित्र-निर्माण इस अवस्था तक पहुँच जाता है तब युवक के मानसिक विचारों में परस्पर संघर्ष नहीं होता, उनका प्रवाह एक ही दिशा में बहने लगता है, उसके मन, वचन तथा कर्म में एक अपूर्व समता का राज्य हो जाता है।

३. 'विषम जाल' (Complexes)

हम बतला चुके हैं कि मनुष्य के व्यवहार का निर्धारण 'स्थायी भावों' (Sentiments), 'व्यवसाय' (Will) तथा 'चरित्र' (Character) द्वारा होता है। परंतु हम में से प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव से जानता है कि हमारे सब उद्वेग क्रिया में परिणत नहीं होते। जो हो जाते हैं वे विकसित होते चले जाते हैं, परंतु जो भाव, जो उद्वेग प्रकट नहीं होते उनका क्या होता है?

कई कहते हैं कि उनमें से बहुत-से तो भुला दिए जाते हैं; कई भाव अपने मौक़े के इंतज़ार में बैठे रहते हैं; कई भिन्न-भिन्न प्रकार से रूपांतरित होते रहते हैं। इस विषय में 'मनोविश्लेषणवादी' फ़्रॉयड, एडलर तथा जंग ने विस्तृत विवेचन

किया है। उनका कहना है कि स्थायी भाव, व्यवसाय तथा चरित्र तो 'ज्ञात चेतना' का विषय हैं, जो भाव दबा दिए जाते हैं वे 'अज्ञात चेतना' में चले जाते हैं। 'अज्ञात चेतना' में पड़े-पड़े वे दो काम करते हैं:—

(क). मनुष्य के व्यवहार को उसके बिना जाने प्रभावित करते रहते हैं, और

(ख). अंदर-अंदर अन्य दबे भावों के साथ मिलकर 'विषम जाल' बनाते रहते हैं। वे मनुष्य की मानसिक रचना का जबरदस्त हिस्सा बन जाते हैं, इसीलिये उन्हें 'विषम जाल' (Complexes) कहते हैं।

'स्थायी भाव' भी मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करते हैं, 'विषम जाल' भी, परंतु इनमें भेद यह है कि 'स्थायी भाव' 'ज्ञात चेतना' में रहते हैं, 'विषम जाल' 'अज्ञात चेतना' में; 'स्थायी भाव' जिसमें होते हैं उसे उनका ज्ञान होता है, 'विषम जाल' जिसमें होते हैं, उसे उनका ज्ञान नहीं होता।

शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक में उक्त प्रकार के 'विषम जाल' न बनने दे। इनके विषय में हम विस्तार से तृतीय अध्याय में लिख चुके हैं।

नवम अध्याय

तंतु-संस्थान, निर्विकल्पक, सविकल्पक तथा पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष

मानसिक प्रक्रिया के हमने तीन विभाग किए थे : 'ज्ञान', 'संवेदन' तथा 'व्यवसाय'। इनमें से 'संवेदन' तथा 'व्यवसाय' का वर्णन हम कर चुके, अब 'ज्ञान' का वर्णन करेंगे। 'ज्ञान' में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, सविकल्पक प्रत्यक्ष, पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष, रुचि, अवधान, प्रत्यय-संबंध, स्मृति, कल्पना, विचार, तर्क, शिक्षण तथा स्वभाव आ जाते हैं। अगले अध्यायों में हम इन्हीं का वर्णन करेंगे।

हमारे 'ज्ञान' का भौतिक आधार मस्तिष्क है, इसलिये मस्तिष्क की रचना पर कुछ प्रारंभिक बातों का वर्णन कर देना आवश्यक है।

१. तंतु-संस्थान (Nervous System)

हम कई प्रकार के अनुभव तथा कई प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। इन सबके नियंत्रण के लिये शरीर में बड़ा सुव्यवस्थित प्रबंध है। जिस प्रकार तार-घर में तारें लगी होती हैं, और वहाँ से हम जहाँ चाहें वहाँ संदेश भेज सकते हैं, इसी प्रकार शरीर में भी तंतुओं (Nerves) का जाल-सा बिछा हुआ है।

शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से तंतु मस्तिष्क में पहुँचते हैं, और वहाँ से दूसरे तंतुओं के द्वारा संदेश बाहर को भेजा जाता है। तंतुओं के इस संपूर्ण संस्थान को 'तंतु-संस्थान' कहते हैं। 'तंतु-संस्थान' को तीन भागों में बाँटा गया है :—

क. मस्तिष्क तथा मेरुदंड। यह 'केंद्रिय तंतु-संस्थान' (Central Nervous System or Cerebro-spinal System) कहाता है।

ख. तंतु-जाल, जो मस्तिष्क तथा मेरुदंड से शुरू होकर आँख, नाक, कान, त्वचा आदि में फैल रहा है, इसे 'त्वक् तंतु-संस्थान' (Peripheral Nervous System) कहते हैं।

ग. 'जीवन-योनि संस्थान' (Sympathetic Nervous System).

(क). 'केंद्रिय तंतु-संस्थान' (Central Nervous System) में मस्तिष्क के चार अंग आ जाते हैं :—

१. बड़ा दिमाग़ (Cerebrum)
२. मेरुदंड (Spinal cord)
३. छोटा दिमाग़ (Cerebellum)
४. सेतु (Pons)

(१) बड़ा दिमाग़ (Cerebrum)—सिर की खोपड़ी के भीतर जो भेजा होता है वही दिमाग़ कहाता है। इसमें जो हिस्सा भौंओं के सामने से चलकर सिर के पीछे उभरे हुए स्थान तक चला जाता है, वह 'बड़ा दिमाग़' कहाता है। यह दो अर्ध-वृत्तों में

बँटा रहता है, और इसकी शक्ल अखरोट की गिरी-जैसी होती है। अखरोट की गिरी में जैसी दरारें होती हैं वैसी इसमें भी पाई जाती हैं। ये दरारें मस्तिष्क को भिन्न-भिन्न भागों में बाँटती हैं। जिसमें जितनी अधिक दरारें होती हैं, उसमें उतनी अधिक उस केंद्र की शक्ति मानी जाती है। बड़े दिमाग़ में ज्ञानेंद्रियों के केंद्र रहते हैं। आँख, नाक, कान, जिह्वा आदि से ज्ञान-वाहक तंतु बड़े दिमाग़ में ही जाते हैं, इसलिये बड़े दिमाग़ को भिन्न-भिन्न ज्ञानों का केंद्र समझा जाता है। ज्ञानेंद्रियों के केंद्र बड़े दिमाग़ के किस हिस्से में रहते हैं? अगर बड़े दिमाग़ की किसी बड़ी तह को लेकर काटा जाय, तो उसके दो रंग दिखाई देंगे। जैसे कद्दू को काटें, तो छिलके के नज़दीक़ का हिस्सा कुछ लालिमा लिए होता है, और भीतर का सफ़ेदी लिए; इसी प्रकार बड़े दिमाग़ की किसी तह को काटें, तो बाहर की परत के साथ का हिस्सा भूरे रंग का और भीतर का सफ़ेद रंग का दिखाई देता है। भूरे रंग के इस पदार्थ को 'कॉरटेक्स' (Cortex) कहते हैं, और मस्तिष्क की रचना में यही मुख्य पदार्थ है। ज्ञान-तंतु 'कॉरटेक्स' में इंद्रिय के ज्ञान को ले जाते हैं। 'कॉरटेक्स' में प्रत्येक इंद्रिय के ज्ञान को ग्रहण करने का एक-एक केंद्र होता है। ज्ञान-वाहक तंतु इसी केंद्र तक ज्ञान पहुँचा देता है। ज्ञान को ग्रहण करने के केंद्रों के अतिरिक्त 'कॉरटैक्स' में चेष्टा के केंद्र भी रहते हैं। ज्ञान-तंतु द्वारा 'ज्ञान के केंद्र' (Sensory Centre) तक जब किसी इंद्रिय का ज्ञान पहुँचता है, तो

'चेष्टा-केंद्र' (Motor Centre) को क्रिया करने का हुक्म होता है। 'ज्ञान-केंद्र' तथा 'चेष्टा-केंद्र को मिलानेवाले कुछ तंतु हैं जिन्हें 'संयोजक तंतु' (Association Fibres) कहते हैं। 'ज्ञान-केंद्र' से जो ज्ञान आता है, उसे समझकर 'चेष्टा-केंद्र' को हुक्म दिया जाता है, बिना समझे नहीं दिया जाता, यह बात तो स्पष्ट है। परंतु समझने के इस काम को कौन करता है ? 'ज्ञान-केंद्र' ख़ुद तो समझ नहीं सकते। 'आत्मा' को न माना जाय, तो इस प्रश्न का क्या उत्तर है ? परंतु मनोविज्ञान इस प्रश्न को यहीं छोड़ आगे चल देता है, क्योंकि यह मनोविज्ञान का विषय नहीं है, 'अंतिम सत्तावाद' का प्रश्न है। मनोविज्ञान इतना ही कहता है कि अगर हमारे सामने फूल है, तो ज्ञान-वाहक तंतु कॉरटेक्स में 'ज्ञान-केंद्र' के पास पुष्प का अनुभव भेज देते हैं, वहाँ से 'चेष्टा-केंद्र' चेष्टा-वाहक तंतुओं द्वारा क्रिया करते हैं, और हाथ फूल को पकड़ लेते हैं। इस प्रकार जब बड़ा दिमाग़ काम करता है, तो 'ज्ञानपूर्वक चेष्टा' होती है, इसे ऐच्छिक (Voluntary) क्रिया कहा जाता है, इसमें दिमाग़ सीधा अपने आप काम करता है।

परंतु हमारी सब क्रियाएँ ऐच्छिक ही हों, ज्ञानपूर्वक ही हों, सब में दिमाग़ सीधा ही काम करे, यह बात नहीं है। कई क्रियाएँ ऐसी होती हैं जिनमें दिमाग़ सीधा काम नहीं करता। वे क्रियाएँ 'पृष्ठ-वंश' द्वारा होती हैं जिसे 'मेरुदंड' कहते हैं।

(२) मेरुदंड (Spinal Cord)—जिस प्रकार कई

बड़े-बड़े दफ़्तर होते हैं, उनके नीचे कई छोटे दफ़्तर उन्हीं का काम हल्का करने के लिये होते हैं, इसी प्रकार बड़े दिमाग़ के कई काम इसके छोटे दफ़्तर मेरुदंड के सुपुर्द हैं। मेरुदंड रीढ़ की हड्डी का नाम है, जो गर्दन से शुरू होकर नीचे तक चली गई है। इसमें कई मोहरे हैं और इन मोहरों में वही भूरा तथा सफ़ेद पदार्थ होता है जो बड़े दिमाग़ में पाया जाता है। बड़े दिमाग़ से तंतुओं के बारह जोड़े तो सीधे चेहरे, आँख, नाक, कान, जीभ में चले जाते हैं; इकतीस 'तंतु-युगल' मेरुदंड में से होकर शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त हो जाते हैं। इस प्रकार बहुत-से कामों के लिये मेरुदंड शरीर तथा बड़े दिमाग़ में माध्यम का काम करता है। देखने, सूँघने, चखने आदि में सीधा बड़ा दिमाग़ काम करता है, परंतु अगर काँटा चुभ जाय, तो पाँव को एकदम खींच लेने का काम बड़ा दिमाग़ नहीं करता। यह काम बड़े दिमाग़ ने मेरुदंड के सुपुर्द कर रक्खा है। सहज-क्रियाओं (Reflex Actions) का नियंत्रण मेरुदंड से होता है, ऐच्छिक क्रियाओं का नियंत्रण बड़े दिमाग़ से होता है। कई 'जन्मसिद्ध ऐच्छिक क्रियाएँ' (Innate Reflexes) होती हैं, जैसे, आँख का झपकना; कई 'अर्जित ऐच्छिक क्रियाएँ' (Acquired Reflexes) होती हैं, जैसे, चलना, बाइसिकल चलाना। 'अर्जित ऐच्छिक क्रियाएँ' शुरू-शुरू में बड़े दिमाग़ से होती हैं, अभ्यास हो जाने पर उनका नियंत्रण मेरुदंड से होता है।

(३) छोटा दिमाग़ (Cerebellum)—यह खोपड़ी के भीतर, गले से ऊपर, बड़े दिमाग़ के नीचे, एक कनपटी से दूसरी कनपटी तक फैला रहता है। इसका काम शरीर की गति का नियंत्रण करना है। चलना, फिरना, उठना, बैठना, खड़े होना, इन सबका संचालन इसी से होता है। कई लोग इसे सांसारिक प्रवृत्तियों का भी केंद्र मानते हैं। प्रेम-भाव, समाज-प्रेम, दांपत्य स्नेह, वात्सल्य भाव, मैत्री भाव आदि का केंद्र छोटा दिमाग़ समझा जाता है।

(४) सेतु (Pons)—यह छोटे दिमाग़ के दोनो अर्ध-वृत्तों को ऊपर से मिलाए रहता है।

(ख). 'त्वक् तंतु-संस्थान' (Peripheral Nervous System) में दो तंतु गिने जाते हैं; 'ज्ञान-वाहक तंतु' (Sensory Nerves) तथा 'चेष्टा-वाहक तंतु' (Motor Nerves).

जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की रचना 'कोष्ठों' (Cells) द्वारा होती है, इसी प्रकार ज्ञान तथा चेष्टा-वाहक तंतु भी 'कोष्ठों' (Cells) से बने हैं। इन कोष्ठों को 'तंतु-कोष्ठ' (Nerve Cells) कहते हैं। 'तंतु-कोष्ठ' गोल-गोल-से कोष्ठक नहीं होते, ये पतले, लंबे धागे-से होते हैं। इनके बीच में एक गाँठ-सी होती है, जिसे 'कोष्ठ-शरीर' (Cell-body) कहते हैं। 'कोष्ठ-शरीर' के दोनो तरफ़, दाएँ-बाएँ जो धागे-से होते हैं उनसे मिलकर पूरा 'तंतु-कोष्ठ' (Nerve Cell) बनता है। बड़ा होकर यह 'तंतु-कोष्ठ' दो-तीन फ़ीट तक का हो जाता है।

इस प्रकार के अनेक, परंतु एक ही सदृश, 'तंतु-कोष्ठ' (Nerve Cells) मिलकर 'ज्ञान-वाहक तंतु' तथा 'चेष्टा-वाहक तंतु' को बनाते हैं। हमने अभी कहा था कि 'तंतु-कोष्ठ' पर एक गाँठ-सी होती है, जिसे 'कोष्ठ-शरीर' (Cell-body) कहते हैं। जब 'तंतु-कोष्ठों' के मिलने से 'वाहक तंतु' (Nerves) बनते हैं तब 'कोष्ठ-शरीर' भी परस्पर मिल जाते हैं, और इस प्रकार जो कोष्ठ-समूह बनता है उसे 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) कहते हैं। 'ज्ञान-वाहक तंतु' का एक सिरा शरीर के त्वक्-प्रदेश में फैला होता है, दूसरा सिरा मेरुदंड के भीतर समाप्त होता है। ज्ञान-वाहक तंतु का 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) मेरुदंड के भीतर नहीं जाता, बाहर ही रहता है, और शरीर के दूर-दूर से आ रहे अनुभवों में वेग उत्पन्न कर देता है ताकि केंद्र तक पहुँचते-पहुँचते उसका वेग धीमा न पड़ जाय। मेरुदंड के भीतर जहाँ 'ज्ञान-वाहक तंतु' समाप्त होता है, वहाँ, उसके साथ से ही 'चेष्टा-वाहक तंतु' शुरू हो जाता है। 'चेष्टा-वाहक तंतु' का 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) मेरुदंड के भीतर ही होता है, बाहर नहीं होता, और ज्ञान तथा चेष्टा-वाहक तंतुओं के सिरों के सहयोग से एक छोटे-से दिमाग़ का काम करता है। 'जन्मसिद्ध' (Innate) तथा 'अर्जित' (Acquired) 'सहज-क्रियाओं' (Reflexes) का यही संचालन करता है। शरीर-रचना-शास्त्र में चेष्टा-वाहक तंतु के इस 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) को, जो मेरुदंड के भीतर रहता हुआ 'सहज-

क्रिया' का संचालन करता है, 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) नहीं कहते, 'कोष्ठ-शरीर' (Cell-body) ही कहते हैं। 'चेष्टा-वाहक तंतु' त्वक्-प्रदेश में नहीं जाता, मांसपेशी में जाता है, और इसीलिये 'ज्ञान-वाहक तंतु' द्वारा किसी ज्ञान के आने पर मांसपेशी में क्रिया उत्पन्न होती है। ज्ञान-वाहक तथा चेष्टा-वाहक तंतु मेरुदंड में ही आकर मिलते हैं; इसलिये 'सहज-क्रियाओं' (Reflexes) का संचालन मेरुदंड से ही होता है।

ज्ञान-वाहक तथा चेष्टा-वाहक तंतु मेरुदंड में समाप्त नहीं हो जाते, उसमें से गुज़रकर वे मस्तिष्क में जाते हैं। कई क्रियाओं का संचालन मस्तिष्क की साधारण देख-रेख में मेरु-दंड द्वारा ही हो जाता है, और कई का मस्तिष्क द्वारा होता है।

जब विषय सामने आता है, तो ज्ञान-वाहक तंतु बड़े दिमाग़ में समाचार पहुँचाते हैं। आँख के द्वारा ज्ञान होता है, तो देखने के केंद्र के पास समाचार पहुँचता है; कान के द्वारा होता है, तो सुनने के केंद्र के पास। जब समाचार दिमाग़ तक पहुँच जाता है, तो इसे निर्विकल्पक इंद्रिय-जन्य ज्ञान (Sensation) कहते हैं। प्रत्येक इंद्रिय का अपना-अपना ज्ञान (Sensation) है। इस ज्ञान के बाद उन-उन इंद्रियों के 'चेष्टा-केंद्र' चेष्टा-वाहक तंतुओं द्वारा मांसपेशियों में चेष्टा उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार सहज-क्रियाओं में यह संपूर्ण क्रिया बड़े दिमाग़ में न होकर मेरुदंड में वर्तमान भिन्न-भिन्न केंद्रों में हो जाती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आँख नहीं देखती,

बड़ा दिमाग़ देखता है, वही सूँघता है, वही चखता है। अगर किसी का 'ज्ञान-वाहक तंतु' काट दिया जाय, तो वह चेष्टा तो कर सकेगा, उसे ज्ञान (Sensation) नहीं होगा ; अगर 'चेष्टा-वाहक तंतु' काट दिया जाय, तो उसे ज्ञान होगा, परंतु वह चेष्टा नहीं कर सकेगा।

(ग). 'जीवन योनि संस्थान' (Sympathetic Nervous System) का नियंत्रण 'मज्जादंड मूल' (Medulla oblongata) से होता है। 'मज्जादंड मूल' मेरुदंड के ही उस उपरले भाग को कहते हैं जो खोपड़ी में प्रविष्ट होकर उसमें फैल जाता है। यह हृदय, फेफड़े आदि की गतियों को नियंत्रित करता है। मेरुदंड के भीतर 'कोष्ठ-समूह' होते हैं, यह हम पहले कह आए हैं। मेरुदंड की मोहरों के बाहर भी दोनो तरफ़ गर्दन तक दानों-दानों के रूप में कुछ 'कोष्ठ-समूह' (Ganglia) होते हैं जिनका संबंध ऊपर गर्दन तक 'मज्जादंड मूल' से होता है। इन 'कोष्ठ-समूहों' से कुछ तंतु हृदय, फेफड़े आदि में जाते हैं और वे उनकी गतियों को नियंत्रित करते हैं। इस 'तंतु-संस्थान' को 'जीवन योनि संस्थान' कहते हैं, क्योंकि यह जीवन के कारण-भूत अवयवों का संचालन करता है।

२. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (Sensation)

तो फिर इंद्रिय-जन्य ज्ञान किसे कहते हैं ? विषय हमारे सामने है। उस पर सूर्य की किरणें पड़ रही हैं। वे लहरें ईथर के माध्यम से हमारी इंद्रिय की बाहर की तह को आकर छूती

हैं। जैसा ऊपर कहा गया था, प्रत्येक इंद्रिय के बाह्य त्वक् प्रदेश में ज्ञान-वाहक तंतुओं का जाल बिछा रहता है, जिसे 'त्वक तंतु-संस्थान' कहते हैं। जब वे लहरें इंद्रिय के ज्ञान-वाहक तंतुओं पर पड़ती हैं, तो उस ज्ञान को ये तंतु दिमाग़ के भूरे रंग के पदार्थ 'कॉरटेक्स' तक पहुँचाते हैं। 'कॉरटेक्स' में 'ज्ञान-केंद्र' होता है। जब 'कॉरटेक्स' के ज्ञान-केंद्र तक अनुभव पहुँच जाता है तभी उसे 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' या 'इंद्रिय-जन्य ज्ञान' (Sensation) कहते हैं। आँख, नाक, कान, रसना, त्वचा, सब इंद्रियाँ इसी प्रकार अपने ज्ञान को 'कॉरटेक्स' के ज्ञान-केंद्र में पहुँचाती हैं।

'कॉरटेक्स' के ज्ञान-केंद्र तक पहुँचकर अनुभव का, झट-से, कॉरटेक्स के अन्य भागों से भी संबंध हो जाता है। आँख से आनेवाले अनुभवों को हम पिछले अनुभवों के प्रकाश में ही देखते हैं, और हमें शुद्ध इंद्रिय-जन्य ज्ञान की कभी अनुभूति नहीं होती। शुद्ध इंद्रिय-जन्य ज्ञान (Pure Sensation) 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' को कहते हैं, जिसमें जिस इंद्रिय से ज्ञान आ रहा है, उस इंद्रिय के ज्ञान की अनुभूति के सिवा अन्य कोई अनुभव शामिल न हो। होता क्या है? किसी ने 'काग़ज़'-शब्द कहा। इसे सुनते ही दिमाग़ की 'कॉरटेक्स' के श्रवण के 'ज्ञान-केंद्र' तक ख़बर पहुँची, परंतु साथ हमें उसकी सफ़ेदी, उसकी लंबाई-चौड़ाई आदि का ध्यान भी आया। यह तो 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' (Perception) हो गया। प्रत्येक इंद्रिय के साथ ऐसा ही

होता है। हमारा निर्विकल्पक ज्ञान पिछले अनुकूल-प्रतिकूल अनुभवों के प्रकाश में ही नवीन ज्ञान को देखता-सुनता है। इस दृष्टि से 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' अथवा 'शुद्ध इंद्रिय-जन्य ज्ञान' तो होता ही नहीं है।

'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' को हम दो-एक दृष्टांत देकर और अधिक समझाने का प्रयत्न करेंगे। हम पड़े सो रहे हैं, गाढ़ निद्रा में हैं। इतने में दरवाज़े की खटखटाहट से हमारी आँखें खुल जाती हैं। हम अपने चारों तरफ़ मेज़-कुर्सी-पलँग देखते हैं, परंतु हमें कुछ सेकिंड तक यह ज्ञान नहीं होता कि हम कहाँ हैं, ये क्या वस्तुएँ हैं; दूसरे ही क्षण हमें सब ज्ञान हो जाता है। पहले क्षण, आँखें खोलने के ठीक बाद, जब हमारे सम्मुख धुँधला-सा ज्ञान था, ज्ञान था भी परंतु ज्ञान नहीं भी था, उसे 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' (Sensation) कहा जा सकता है, परंतु दूसरे ही क्षण वह 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' (Perception) में बदल गया। हम लिख रहे हैं, हमारा ध्यान काग़ज़ की तरफ़ है, जो शब्द लेखनी से निकल रहे हैं, उनकी तरफ़ है। परंतु हमारे कपड़े भी तो हमारे अंगों को छू रहे हैं, उनका हमें निर्विकल्पक ज्ञान हो रहा है, परंतु ज्योंही हमने उनको सोचना शुरू किया त्योंही उनका ज्ञान निर्विकल्पक नहीं रहा, सविकल्पक हो गया। आँखें बंद कर ली जायँ, सामने दीपक हो, उसकी रोशनी का कुछ-कुछ असर बंद आँखों पर भी पड़ रहा हो, हम दीपक के विषय में कुछ न सोच रहे हों, उस समय जो रोशनी का असर होता है

उसे 'निर्विकल्पक' कहा जा सकता है। जब हम पैदा हुए थे, एकदम संसार को हमने आँखें खुलते ही देखा था, वह 'निर्विकल्पक' ज्ञान था। किसी जन्मांध की एकदम आँखें खुल जायँ, उसे जो पहले-पहल ज्ञान होगा, वह 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' कहा जायगा।

इंद्रियानुभव पाँच इंद्रियों के कारण पाँच प्रकार के हैं। कई मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हम अँधेरे में किसी वस्तु को पकड़ने के लिये इतना ही हाथ बढ़ाते हैं जितनी दूर वह होती है। क्यों? इससे ज्ञात होता है कि शरीर की गतियों को साधने, नजदीकी-दूरी को अनुभव करने का एक स्वतंत्र अनुभव है। इसे 'देशानुभव' (Kinæsthetic Sensation) कहा जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति की इंद्रियों की अपनी-अपनी तीव्रता (Acuity) होती है, जिसे मापा भी जा सकता है। किसी के कान तेज हैं, किसी की आँखें। यह तीव्रता वंशानुसंक्रमण से आती है। कई लोगों का कहना है कि तीव्रता को बढ़ाया भी जा सकता है। तीव्रता विषय के ऊपर भी निर्भर है। कई तीव्र विषय हैं। दीये के सामने बिजली की रोशनी तीव्र है, बाँसुरी की तान के सामने ढोल की आवाज तीव्र है। तीव्र विषय मध्यम को दबा लेता है।

इंद्रियानुभवों पर कई परीक्षण किए गए हैं जिनमें वीबर का परीक्षण बहुत प्रसिद्ध है। वीबर के परीक्षण को फ़ेचनर ने सब इंद्रियों के ज्ञानों पर घटाया था, इसलिये इन परीक्षणों के आधार पर बने नियम को वीबर-फ़ेचनर नियम कहते हैं। यह नियम क्या है?

कल्पना कीजिए कि हमारे हाथ पर एक ज़रा-सा काग़ज़ का टुकड़ा रख दिया गया। हमें इसके बोझ का अनुभव नहीं होगा। इस बोझ को बढ़ाते जायँ, तो ऐसी अवस्था आ जायगी जब बोझ का अनुभव होने लगेगा। यहाँ से अनुभव का प्रारंभ होता है। इससे कम दर्जे के जो अनुभव थे, उन्हें हमारी इंद्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं। अब इस बोझ को हम बढ़ाते जायँ, तो अनुभव होता जायगा कि बोझ बढ़ रहा है। परंतु बोझ के बढ़ते-बढ़ते भी एक ऐसी स्थिति आ जायगी जब हमारे लिये बोझ असह्य हो जायगा। उस असह्य बोझ की अवस्था में अगर एक सेर बोझ और बढ़ा दिया जाय, तो हमें उसके बढ़ने का अनुभव नहीं होगा, बोझ के असह्य होने का अनुभव होता रहेगा। अनुभव की उस सीमा को, जब विषय कितना ही क्यों न बढ़ा दिया जाय, अनुभव में भेद नहीं ज्ञात होता, 'परांत सीमा' (Maximum Limit) कहते हैं। अनुभव की उस सीमा को जिससे विषय का अनुभव शुरू होता है 'अपरांत सीमा' (Threshold of Sensation) कहते हैं। शरीर 'अपरांत' तथा 'परांत' सीमा के बीच के विषयों को ही अनुभव करता है, इनके इधर-उधरवालों को नहीं। अत्यंत धीमा शब्द भी हमें सुनाई नहीं देता, और कुछ सीमा के बाद शब्द को कितना ही क्यों न बढ़ाते जायँ, उसमें भी हम भेद नहीं कर सकते। शब्द के कंपन में इतनी अधिक मात्रा भी हो सकती है कि उसका हमें बिलकुल भी ज्ञान न हो।

हमने अभी कहा कि किसी एक ख़ास सीमा पर आकर ही

हम बोझ के बढ़ने और घटने के भेद को अनुभव कर सकते हैं, और ये सीमाएँ 'अपरांत' तथा 'परांत' कहाती हैं। 'अपरांत' तथा 'परांत' सीमाओं में भी विषय की मात्रा में एक निश्चित वृद्धि होनी चाहिए, ताकि पहले अनुभव को दूसरे अनुभव से भिन्न कहा जा सके। प्रश्न यह है कि 'परांत' तथा 'अपरांत' सीमा के भीतर किस विषय को कितना बढ़ा दिया जाय कि विषय में भेद का अनुभव होने लगे? प्रकाश के विषय में पता लगाया गया है कि जितना प्रकाश हमारे कमरे में है उसका $\frac{१}{१००}$ हिस्सा और बढ़ जाय, तो भेद पता लगेगा; दबाव, गर्मी तथा शब्द में $\frac{१}{३}$ बढ़ना चाहिए; बोझ में $\frac{१}{३०}$; उँगली पर दबाव के लिये $\frac{१}{२०}$; इसे उस विषय की 'अनुभव-भेद-मात्रा' (Differential Threshold) कहते हैं। अगर हमारे सिर पर ३० सेर बोझ है, तो १ सेर बढ़ने से मालूम पड़ेगा कि बोझ बढ़ा, आध सेर बढ़ने से नहीं। यही वीबर-फ़ेचनर ने पता लगाया। कल्पना कीजिए कि हम १० नंबर वाली बत्ती के प्रकाश में बैठे हैं। इस प्रकाश में 'अनुभव-भेद-मात्रा' तब आएगी जब १० बत्तो के प्रकाश का $\frac{१}{१००}$ हिस्सा उसमें जुड़ जायगा, अर्थात १० × $\frac{१}{१००}$ होने पर हमें भेद अनुभव होगा। अब कल्पना कीजिए कि आप १०० बत्ती के प्रकाश में उतनी ही बढ़ती करना चाहते हैं जितनी १० बत्ती के प्रकाश में की थी। तब क्या करना होगा? $\frac{१०}{१००}$ बढ़ा देने से प्रकाश में उतनी बढ़ती नहीं होगी। उस समय १०० + $\frac{१००}{१००}$ से उतना प्रकाश बढ़ेगा। अर्थात् प्रकाश की जितनी मात्रा आपके पास है, उसका $\frac{१}{१००}$

हिस्सा बढ़ने से ही अनुभव में भेद पड़ेगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि १० नंबर की बत्ती में अगर हम १ बत्ती बढ़ा दें, तो उसी भेद को १०० बत्ती में लाने के लिये १ बत्ती बढ़ाना काफ़ी नहीं होगा, उसमें १० बत्ती बढ़ानी पड़ेंगी, तब जाकर उतना प्रकाश में भेद अनुभव होने लगेगा जितना १० बत्ती में १ बत्ती के बढ़ाने से अनुभव होता था।

'गुण' (Quality), 'मात्रा' (Intensity), 'स्थिति-काल' (Protensity) तथा 'देश' (Extensity) की दृष्टि से इंद्रिय-जन्य ज्ञान को चार भागों में बाँटा जाता है। रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द 'गुण' हैं। एक ही शब्द ऊँचा हो सकता है, धीमा हो सकता है, यह 'मात्रा' है। वह शब्द देर तक रहे, या शीघ्र समाप्त हो जाय, इसमें अनुभव भिन्न हो जाता है, इसे 'स्थिति-काल' कहते हैं। नाक के एक स्थान को छुआ जाय, तो भिन्न अनुभव होता है, दूसरे स्थान को छुआ जाय, तो भिन्न। यह 'स्थान-कृत' अथवा 'देश-कृत' भेद है। यह भेद स्पर्शादि में ही पाया जाता है, सब में नहीं।

शिक्षा इंद्रिय-जन्य ज्ञान पर ही आश्रित है। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह बालकों के इंद्रिय-ज्ञान को परखता रहे। कई बालकों की आँखें ख़राब होती हैं, और शिक्षक को इसका पता ही नहीं होता। वह बालक बहुत घाटे में रहता है। शिक्षक का काम बालक को भिन्न-भिन्न इंद्रियों के जितने हो सकें उतने अनुभव देना है। हमारा संपूर्ण ज्ञान इंद्रियानुभवों पर ही आश्रित है।

शिक्षक भिन्न-भिन्न इंद्रियों से जितना ज्ञान बालक को दे सकेगा उतना ही उसके काम आएगा। 'मौंटिसरी-पद्धति' में उपकरणों का यही लाभ है। बालक की इंद्रियाँ उनसे सधती हैं। परंतु शिक्षक का इतना ही काम नहीं है कि बालकों को इंद्रियानुभवों का धनी बनाने लिये केवल उन्हें इंद्रियानुभवों से घेर दे। हमें देखना चाहिए कि हम इंद्रियानुभव प्राप्त करने के लिये जिन परिस्थितियों को बालक के चारों तरफ़ उत्पन्न करें वे सप्रयोजन हों, निष्प्रयोजन नहीं। आजकल स्कूलों में हाथ के कई काम सिखाए जाते हैं। इनका यही महत्त्व है कि ये बालक के इंद्रियानुभव को बहुत बढ़ा देते हैं।

३. सविकल्पक प्रत्यक्ष (Perception)

'कॉरटेक्स' में जब अनुभव पहुँचता है, तब उसे 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' या 'इंद्रिय-जन्य ज्ञान' (Sensation) कहते हैं; जब मन उस अनुभव को समझ लेता है, यह अनुभव क्या है, कैसा है, कहाँ से आ रहा है, इन बातों का ज्ञान कर लेता है, तो उसे 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' (Perception) कहते हैं। 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' के बाद होता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, हमारा ज्ञान, हमारा अनुभव 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' ही होता है। जब तक हमें पदार्थ के विषय में भान-सा होता है, अस्पष्ट-सा, धुँधला-सा ज्ञान होता है, तभी तक वह 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' (Sensation) के क्षेत्र में होता है; ज्योंही हमें उसका स्पष्ट ज्ञान होने लगता है, ज्योंही हम

विषय को पहचानने लगते हैं, त्योंही वह 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' (Perception) के क्षेत्र में आ जाता है। हमारा ज्ञान 'सविकल्पक' ही रहता, 'निर्विकल्पक ज्ञान' तो कल्पना की वस्तु समझना चाहिए।

'प्रत्यय-संबंध-वादियों' (Associationists) का कथन है कि हमारा संपूर्ण ज्ञान 'प्रत्ययों' अर्थात् 'इंद्रिय-जन्य ज्ञानों' के समूह का नाम है। हम अनार देखते हैं। वह गोल है, लाल है, मीठा है, और न-जाने बहुत-कुछ है। ये सब अनुभव हमारे भूत के अनुभवों के प्रकाश में हमारे ज्ञान को बनाते रहते हैं। हमने परसों अनार खाया था, उस-जैसा ही यह है। यह उस-जैसा ही गोल, लाल, मीठा है। पुराने अनुभव के प्रकाश में, सादृश्य के कारण, हम इसे अनार कह देते हैं। यह अमरूद नहीं है, क्योंकि कल हमने जो अमरूद खाया था, उससे इसके गुण भिन्न हैं। इस अन्वय-व्यतिरेक द्वारा प्रत्ययों के संबंध से हमें 'सविकल्पक ज्ञान' (Perception) होता है। 'प्रत्यय-संबंध-वादियों' के मुक़ाबिले में 'जेस्टाल्ट-वादियों' का कथन है कि 'सविकल्पक ज्ञान' को हम भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में नहीं बाँट सकते। हमें संपूर्ण वस्तु का इकट्ठा ज्ञान होता है। 'जेस्टाल्टवाद' पर हम तृतीय अध्याय में लिख चुके हैं।

'सविकल्पक ज्ञान' को तीन दृष्टियों से देखा जा सकता है:—

(क). हम आम के पेड़ को देखते हैं। यह देखना क्या है ? जो विषय हमारे सम्मुख है, उसे हम ग्रहण कर रहे हैं, समझ रहे हैं, यह 'दृश्य-रूप' (Presentative Aspect) कहाता है।

(ख). जब आम का पेड़ हमारे सामने नहीं होता तब भी हम उसका विचार मन में ला सकते हैं, यह 'कल्पना-रूप' (Representative Aspect) ज्ञान है।

(ग). आम के पेड़ को हम किन्हीं संबंधों में ही अनुभव करते हैं। अगर हमारे गाँव में हमारा ही कोई बाग़ीचा है, उसमें आम ही के पेड़ हैं, तो उस संबंध से, अथवा किसी अन्य संबंध से हमारा आम के पेड़ का ज्ञान बना रहता है। इसी प्रकार अन्य ज्ञान भी स्वतंत्र-रूप से नहीं होते, उनमें किसी-न-किसी प्रकार का 'संबंध-रूप' (Relational Aspect) रहता ही है।

बालकों का ज्ञान 'दृश्य-रूप' का होता है। जिस चीज़ को समझाना हो, उसे प्रत्यक्ष दिखाना चाहिए। उनमें कल्पना के आधार पर बना ज्ञान बहुत कम चाहिए। बच्चे जब एक ही चीज़ को दुबारा देखते हैं तब भी उन्हें उस वस्तु के पूर्वानुभव की स्मृति बहुत कम होती है। इसलिये बच्चों को एक ही चीज़ के बार-बार दिखलाने की ज़रूरत पड़ती है। अगर आम का ज्ञान कराना है, तो उन्हें बाग़ीचे में ले जाकर आम दिखा देने से जैसा ज्ञान हो जाता है, वैसा आम का वर्णन कर देने से नहीं होता। बाग़ीचे में वृक्ष दिखलाने से 'सविकल्पक ज्ञान' में रहनेवाला 'संबंध-रूप' भी अपना काम करता है। आम कहाँ है ? बाग़ में है, उसके पास अनार के पेड़ हैं, उसके एक तरफ़ पहाड़ है, इन संबंधों के कारण आम के पेड़ का ज्ञान 'यथार्थ ज्ञान' का रूप धारण करता है। कई

बालकों में 'स्मृति' तथा 'कल्पना' थोड़ी होने के बजाय अधिक होती हैं। वे जब किसी चीज़ को देखते हैं तब उससे मिलती-जुलती अनेक चीज़ें उन्हें याद आने लगती हैं। वे किसी गोल चीज़ को देखकर गेंद, अनार, लड्डू, अमरूद न-जाने क्या-क्या बोल जाते हैं। 'सविकल्पक ज्ञान' (Perception) को शुद्ध बनाने के लिये शिक्षक को चाहिए कि वह बालक को वस्तु बार-बार दिखलाए, भिन्न-भिन्न 'संबंधों' (Relations) में उसका ज्ञान कराए, और बालक में ऐसी योग्यता उत्पन्न कर दे कि वह वस्तु को अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा भी अपने मन में ला सके। काल तथा देश के विषय में बालकों का ज्ञान बहुत दोषपूर्ण तथा अधूरा होता है। दिन, सप्ताह, पक्ष, मास आदि के विषय में उनका ज्ञान स्पष्ट नहीं होता। फ़ुट, गज़, मील आदि को भी वे ठीक नहीं समझते। इन विषयों का ज्ञान बालक को स्थूल उपायों से कराना चाहिए।

४. पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष (Apperception)

हम कह चुके हैं कि 'सविकल्पक ज्ञान' में पिछले अनुभव काम करते रहते हैं। जब कोई बच्चे को कोनीन खाने को देता है, अगर उसने उसे कभी नहीं खाया, तो वह झट-से उसे मुँह में डाल लेता है। कड़वी लगने पर थूकता है। परंतु अगर वह पहले उसे मुँह में डाल चुका है, तो कोनीन को लेते ही वह फेंक देता है, कहता है, कड़वी है। अगर किसी बच्चे ने मीठा नहीं खाया, कोनीन का अनुभव कर चुका है, उसे अगर मीठा दिया जाय, तो वह 'कड़वा' कहकर उसे बिना चखे ही फेंक देता है। यह क्यों ? इस

का यही कारण है कि हमारा संपूर्ण नवीन-ज्ञान: पूर्ववर्ती-ज्ञान के प्रकाश में ही मन में प्रविष्ट होता है। हम कई बातों का प्रत्यक्ष कर चुके हैं। जब नया प्रत्यक्ष होता है, तो मन में एक विचार-प्रक्रिया चल पड़ती है। यह चीज़ अमुक चीज़ से मिलती-जुलती है, और अमुक से बिल्कुल भिन्न है। जिस बालक ने कोनीन चख रक्खी है, और मीठा नहीं चखा, वह मीठे को देखकर उसका कोनीन से मिलान करता है; जिसने मीठा चखा, और कोनीन नहीं चखी, वह कोनीन को देखकर उसे मीठा समझता है। अर्थात् हमारा जो भी नवीन-प्रत्यक्ष होता है, वह पूर्ववर्ती प्रत्यक्ष का अनुवर्ती होकर चलता है, इसलिये प्रत्येक नवीन-ज्ञान 'पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष' (Apperception) कहाता है। इसी दृष्टि से कई लोगों का कथन है कि संपूर्ण 'सविकल्पक ज्ञान' (Perception) 'पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष' (Apperception) है।

एक मज़दूर वेदों के व्याख्यान को क्यों नहीं समझ सकता, और एक विद्वान् व्यक्ति बड़े विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्यान को क्यों ख़ूब समझता है? मज़दूर देखता है कि उसका जो 'पूर्ववर्ती ज्ञान' (Apperceptive mass) है, वेदों के व्याख्याता की कोई बात भी उससे मेल नहीं खाती। उसके दिमाग़ में जो भी वर्गीकरण बन चुका है, उसमें वेदों की बात किसी वर्ग में भी नहीं आती। उसके दिमाग़ में जो बातें पहले से मौजूद हैं, नई बात उनमें से किसी से मिलती-जुलती हो, तब तो अंदर जा सके। वेदों के व्याख्याता के मन में जो कुछ पहले से संचित है,

व्याख्याता का विषय उससे बहुत मिलता-जुलता है, इसलिये वह सब-कुछ समझता जाता है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हम नवीन विषय को उतना ही समझ सकते हैं, जितना वह हमारे पूर्व-प्रत्यक्ष से मिलता-जुलता होता है। अगर किसान के सम्मुख 'फल'-शब्द का उच्चारण किया जाय, तो वह इसका अभिप्राय सेव, अमरूद आदि से समझेगा; अगर पंडित के सम्मुख यह शब्द बोला जाय, तो उसका ध्यान 'कर्मों के फल' की तरफ़ जायगा; अगर लोहार के सम्मुख यह शब्द कहा जाय, तो वह इसका अर्थ छुरी, भाले आदि से समझेगा। प्रत्येक व्यक्ति का नवीन-ज्ञान उसके पूर्ववर्ती-ज्ञान का अनुवर्ती होगा। नए अनुभव पुरानों से ही मिलते-जुलते होते हैं, इसीलिये वे दिमाग़ में स्थान भी पा जाते हैं। अंदर जाकर वे पुराने अनुभवों से संबद्ध हो जाते हैं, और उनमें अपनी कुछ नवीनता का भी संचार कर देते हैं। इस प्रकार 'पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष' पूर्वानुभवों के नवीन अनुभवों के साथ संबंध (Association) का परिणाम होता है।

शिक्षा में 'पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष' का बड़ा महत्त्व है। शिक्षक बालक को वही बात समझा सकता है जिस तरह की कोई बात वह पहले समझा हुआ है, बिल्कुल नई बात को वह नहीं समझ सकता। अगर कोई नई बात समझानी हो, तो उसका बालक के 'पूर्ववर्ती ज्ञान' (Apperceptive Mass) के साथ किसी-न-किसी प्रकार का संबंध जोड़ना आवश्यक होता है। बालक

प्रत्येक पदार्थ का खुद-ब-खुद अपने 'पूर्ववर्ती ज्ञान' के अनुसार वर्गीकरण करता रहता है। विक्रम की बहन का नाम उमा है। विक्रम को एक लड़की की तस्वीर दिखाई जाती है। उसे देखकर वह झट से 'उमा' कह उठता है। बड़ा होने पर बालक अक्षराभ्यास सीखता है, परंतु कुछ ही दिनों में वह शब्द पढ़ना सीख जाता है। जब वह खूब पढ़ने लगता है, तब वह प्रत्येक शब्द के हिज्जे नहीं करता, शब्द-के-शब्द पढ़ जाता है। अगर ग़लत शब्द लिखा है, उसे भी सही पढ़ जाता है। इसका कारण यही है कि उसके दिमाग़ में जो ज्ञान बन चुका होता है, उसी के आधार पर वह पढ़ता जाता है, शब्द पढ़ते हुए वह उसके एक-एक अक्षर को नहीं पढ़ता। शिक्षक का काम 'पूर्ववर्ती ज्ञान' के साथ-साथ नवीन ज्ञान का संबंध स्थापित करते जाना है। शिक्षा के क्षेत्र में इस सिद्धांत को हर्बार्ट ने घटाया था। उसका कथन है कि अध्यापक को नया पाठ पढ़ाते हुए पहले पिछले पाठ के साथ संबंध अवश्य जोड़ना चाहिए, तभी नया पाठ ठीक समझ में आता है, अन्यथा नहीं।

दशम अध्याय

चेतना, रुचि, अवधान तथा थकान

१. केंद्रवर्ती तथा प्रांतवर्ती चेतना

'रुचि' तथा 'अवधान' को समझने के लिये यह आवश्यक है कि इन दोनो का मनोवैज्ञानिक स्वरूप समझ लिया जाय, और इनके मनोवैज्ञानिक रूप को समझने के लिये 'चेतना' के विषय में दो-एक बातें समझ लेना जरूरी है। लॉयड मार्गन ने 'चेतना' की व्याख्या करते हुए दो शब्दों का प्रयोग किया है: 'केंद्रवर्ती' (Central) तथा 'प्रांतवर्ती' (Marginal)। चेतना की एक वृत्त से उपमा दी जा सकती है। कुछ विचार चेतना-रूपी वृत्त के केंद्र में रहते हैं, इन्हें 'केंद्रवर्ती' कहना चाहिए; कुछ इस वृत्त के केंद्र में तो नहीं परंतु प्रांत-भाग में रहते हैं, इन्हें 'प्रांतवर्ती' कहना चाहिए। हम बैठे लिख रहे हैं, हमारे सामने बिजली का पंखा चल रहा है, परंतु हमारा उसकी आवाज़ की तरफ़ ध्यान नहीं जाता। क्या पंखे की आवाज़ हमारी चेतना में नहीं है? है, परंतु वह आवाज़ हमारी चेतना के वृत्त के प्रांत-भाग में है। हम जिस विषय पर लिख रहे हैं, वह हमारी चेतना के केंद्र में है। इतने में पंखा किसी ख़राबी के कारण बंद हो जाता

है। पंखे का हमारी 'प्रांतवर्ती' चेतना में जो विचार था, वह एक-दम चेतना के 'केंद्र' में चला आता है, और हम लिखना छोड़कर, यह क्यों बंद हो गया, इस पर विचार करने लगते हैं। जेम्स ने चेतना को एक नदी की धारा से उपमा दी है। उसका कथन है कि चेतना की धारा में कई विचार ठीक बीच में तैरते रहते हैं, कई किनारे-किनारे। बीचवालों को मध्यवर्ती या केंद्रवर्ती कह सकते हैं, किनारेवालों को तटवर्ती या प्रांतवर्ती।

उक्त वर्णन से यह तो स्पष्ट ही है कि जब कोई विचार केंद्र-वर्ती हो जाता है, तभी हमारा उसकी तरफ़ ध्यान जाता है, जब तक वह प्रांतवर्ती रहता है, तब तक हमारा ध्यान उधर नहीं जाता। किसी विचार के चेतना के प्रांत में से निकल-कर केंद्र में आ जाने को ही 'अवधान' (Attention) कहते हैं। केंद्र में सब विचार नहीं आ जाते। चेतना में जितने भी विचार होते हैं, उनमें से कुछ प्रांत-भाग में ही रहते हैं, और कुछ केंद्र-भाग में आ जाते हैं। इस प्रकार प्रांतवर्ती भाग में से केंद्र-वर्ती भाग में कुछ विचारों का हमारी चेतना 'चुनाव' कर लेती है, और जिन विचारों का चुनाव होता है, वे ही 'अवधान' के विषय बनते हैं।

अब, अगला विचारणीय प्रश्न यह है कि विचार चेतना के प्रांतवर्ती भाग से केंद्रवर्ती भाग में किस नियम से चुना जाता है? क्या योंही कोई विचार कभी प्रांतवर्ती भाग में, और कभी केंद्रवर्ती भाग में आता-जाता है, या इसका कोई नियम है?

हमारा पंखा चल रहा था, हम लिख रहे थे, हमारा पंखे की तरफ़ ध्यान नहीं था, लिखने की तरफ़ था। पंखे के बंद हो जाने पर हमारा ध्यान एकाएक पंखे की तरफ़ गया। पंखा 'प्रांतवर्ती' चेतना से 'केंद्रवर्ती' चेतना में किस नियम से आ गया ? प्रांतवर्ती चेतना में और भी तो कई विचार थे, वे न आए, उन सबमें से केवल पंखे का ही चुनाव क्यों हुआ ? इसका कारण यह है कि पंखा हमने हवा के लिये खोल रक्खा था, हवा बंद हो जायगी, तो इस गर्मी में हम कैसे लिख सकेंगे। पंखा हमारे 'प्रयोजन' (Purpose) को सिद्ध करता है, पंखे के बंद हो जाने पर हमारा 'प्रयोजन' असिद्ध हो जाता है। अर्थात्, जिस बात से हमारा 'प्रयोजन' सिद्ध होता है, उस तरफ़ झट-से हमारा ध्यान चला जाता है, और वही बात चेतना के केंद्र में आ पहुँचती है। अर्थात्, 'प्रयोजन' (Purpose) के कारण ही कोई वस्तु केंद्रवर्ती चेतना में आती है। बालकों के 'प्रयोजन' (Purposes) निचले दर्जे के होते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, उनमें प्राकृतिक शक्तियाँ (Instincts) ही अपने यौवन-रूप में काम कर रही होती हैं। वे किसी चीज़ को देखकर उसे मुँह में डालना चाहते हैं, किसी क्रिया को देखकर उसका अनुकरण करना चाहते हैं। उनके 'प्रयोजन' इसी तरह के होते हैं। बालक के पाँव में काँटा चुभ गया, वह चिल्ला रहा है, इतने में एक मोटर की आवाज़ आई, वह उछलता-कूदता मोटर की तरफ़ लपकता है। नई चीज़ को वह जानना चाहता है, यह उसका

'प्रयोजन' है, इसलिये काँटे की दर्द उसकी चेतना के प्रांतवर्ती भाग में चली जाती है, मोटर केंद्रवर्ती भाग में आ जाती है ।

'प्रयोजनवाली बात चेतना के केंद्र में चुन ली जाती है'—इसे यों भी कहा जा सकता है कि जिस चीज़ में हमारी 'रुचि' (Interest) होती है, वही चेतना के केंद्र में आती है। 'प्रयोजन', 'रुचि' उत्पन्न करने में सबसे बड़ा कारण है । इसीलिये बालकों में किसी चीज़ के प्रति 'रुचि' उत्पन्न करनी हो, तो उनके हृदय में उस विषय के प्रति कोई-न-कोई 'प्रयोजन' उत्पन्न कर देना सर्वोत्तम साधन है । बच्चों के लिये हिसाब सीखना कितनी नीरस बात है, परंतु अगर उनसे कहा जाय कि तुम्हें दो पैसे रोज मिलेंगे, और हफ़्ते भर में जितने जोड़ लोगे, उससे दुगुने और दिए जायँगे, तो वह ख़ुद-ब-ख़ुद हिसाब करने लगता है। बार-बार पूछता है कि हफ़्ते में कुल मिलाकर उसे कितने पैसे मिलेंगे। उसके सामने एक 'प्रयोजन' रख दिया गया, उस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये उसकी हिसाब में 'रुचि' उत्पन्न हो जाती है। 'प्रयोजन' (Purpose) 'रुचि' (Interest) को उत्पन्न करता है, 'रुचि' 'अवधान' (Attention) को उत्पन्न करती है। इस प्रकार कोई विचार प्रांतवर्ती से केंद्रवर्ती चेतना में आ जाता है।

२. रुचि (Interest)

'रुचि' दो प्रकार की होती है : 'प्राकृतिक रुचि' (Instinctive Interest) तथा 'अर्जित रुचि' (Acquired Interest)। 'प्राकृतिक रुचि' उसे कहते हैं जिसमें विषय को देखकर

अपने-आप रुचि उत्पन्न हो। इसका आधार मनुष्य की 'प्राकृतिक शक्ति' (Instinct) उसका 'स्वभाव' है। जब तक कोई विशेष ही कारण न हो, स्वादिष्ठ भोजन में प्रत्येक की रुचि होती है। बालकों की रुचि खाने, पीने, खेलने, कूदने, नई बात जानने, लड़ने-भिड़ने आदि में होती है। उनमें यह सब स्वभाव से आता है। जिस बात में रुचि हो, उसमें अवधान स्वयं हो जाता है, इसलिये बालकों का ध्यान खाने, पीने, खेलने, कूदने में अधिक रहता है। 'अर्जित' उसे कहते हैं जो प्राकृतिक नहीं होती, किंतु उत्पन्न की जाती है। उदाहरणार्थ, बच्चों को तरह-तरह के रँग देखने का शौक़ है। यह 'प्राकृतिक रुचि' है। परंतु अगर उसके सामने भिन्न-भिन्न रँगों के अक्षर उपस्थित कर दिए जायँ, तो वह रँगों को देखने के साथ-साथ अक्षर पढ़ना भी सीख जाता है। अब अगर उसे इस ढँग से पढ़ने का शौक़ पैदा हो गया, तो यह 'अर्जित रुचि' कहलाएगी। इसी प्रकार तसवीरें देखने के शौक़ से कई बच्चे पढ़ना सीख जाते हैं, पैसे जमा करने के शौक़ से कई बच्चे हिसाब सीख जाते हैं, गुड़ियों को कपड़े पहनाने के शौक़ से कई लड़कियाँ सीना-पिरोना सीख जाती हैं।

'प्राकृतिक रुचि' तो जन्म-सिद्ध होती है, क्योंकि उसका आधार उन बातों पर होता है जो हमें जन्म से प्राप्त हैं, परंतु 'अर्जित रुचि' का आधार क्या है? 'अर्जित रुचि' का आधार 'प्राकृतिक रुचि' ही है। जिन बातों में हमारी रुचि नहीं होती, उन्हें प्राकृतिक रुचि की बातों के साथ जोड़ने से उनमें भी रुचि उत्पन्न

हो जाती है, और जो विषय पहले अरुचिकर था, अब वह रुचिकर हो जाता है। सबसे ज्यादा रुचि मनुष्य को अपने-आप में, अपनी चीज़ों में, अपने संबंधियों में होती है, इसलिये जिस बात का उसके 'स्व' या 'आत्मा' के साथ संबंध जुड़ जाता है, वह कितनी ही अरुचिकर क्यों न हो, उसके लिये रुचिकर हो जाती है। सबसे अधिक नीरस चीज़ रेल का टाइम-टेबल होता है, परंतु अगर हमें अपने घर जाना हो, तो सारे टाइम-टेबल की छान-बीन कर डालते हैं; 'लीडर' में रोज़ आधा सफ़ा-भर भिन्न-भिन्न कंपनियों के हिस्से की दरें निकलती रहती हैं, जब तक हमने किसी कंपनी का हिस्सा नहीं ख़रीदा तब तक हमारी उस सफ़े पर नज़र भी नहीं जाती, अब हिस्से ख़रीदने के बाद सबसे पहले वही सफ़ा खुलता है। बच्चों में जिस विषय के प्रति आत्म-भावना उत्पन्न कर दी जाय, उसमें एकदम उनकी रुचि भी बढ़ जाती है। क़ाग़ज़, क़लम, दवात देकर उन्हें कह दिया जाय, ये तुम्हारी हैं, तो वे उनकी देख-भाल में, उन्हें सँभालने में अपूर्व सावधानता, तत्परता तथा रुचि दिखाते हैं। रुचि का यह नियम है कि एक रुचिकर विषय के साथ जो दूसरा विषय जुड़ता है, भले ही वह अरुचिकर हो, रुचिकर के साथ जुड़ते ही वह भी रुचिकर हो जाता है। रुचि की आग से उपमा दी जा सकती है। उसमें जो ईंधन पड़ेगा, वह भी प्रज्वलित हो उठेगा। 'अर्जित रुचि' इसी प्रकार 'प्राकृतिक रुचि' से अपना जीवन प्राप्त करती है। शिक्षक का कर्तव्य है कि जो भी अरुचिकर विषय हों उन्हें बालकों

के सम्मुख इस प्रकार रक्खे कि वे बच्चे की किसी-न-किसी प्राकृतिक शक्ति को संतुष्ट करते हों। योग्य शिक्षक इतिहास, भूगोल आदि विषयों को 'संग्रह-शीलता' तथा 'विधायकता' की प्राकृतिक शक्तियों की सहायता से बहुत रुचिकर बना सकता है।

'अर्जित रुचि' के विकास में हमें मानसिक विकास की उन्हीं सीढ़ियों में से गुजरना पड़ता है, जिनमें से 'संवेदन' गुज़रता है। 'संवेदन' के प्रकरण में हम लिख चुके हैं कि बालक को पहले 'इंद्रिय-संवेदन' होता है, फिर 'भाव-संवेदन', अंत में उसमें 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' उत्पन्न हो जाता है। 'रुचि' (Interest) 'संवेदन' (Feeling) का ही एक रूप है, इसलिये 'अर्जित रुचि' को इसी प्रक्रिया में से गुजरना होता है। पहले बालक की 'रुचि' उन पदार्थों के प्रति होती है, जो 'इंद्रिय-संवेदन' के अंतर्गत हैं। 'इंद्रिय-संवेदन' इंद्रिय-ग्राह्य तथा स्थूल पदार्थों के प्रति होता है, उनके प्रति जिन्हें देखा, सूँघा तथा छुआ जा सकता है। बालक की शुरू-शुरू में 'रुचि' (Interest) भी ऐसे ही पदार्थों में होती है। तब तक उसमें 'भाव-संवेदन' नहीं उत्पन्न हुआ होता, इसलिये भावात्मक बातों में उसकी रुचि भी उत्पन्न नहीं होती। उसके सामने आम रख दिया जाय, तो उसकी झट-से उसके प्रति 'रुचि' उत्पन्न हो जायगी, क्योंकि 'आम' का 'खाने' के साथ संबंध है; रंग-बिरंगे खिलौने को देखकर वह उसे पकड़ने को दौड़ेगा, क्योंकि यह भी उसकी किसी-न-किसी प्राकृतिक रुचि (Instinctive Interest) को संतुष्ट करता है। बालक की

'इंद्रिय-संवेदन' के पदार्थों में 'रुचि' को शिक्षा के काम में लाया जा सकता है। उसे एक और एक 'दो' होते हैं, सिखाने के बजाय, पहले एक आम देकर फिर एक और दे दिया जाय, और कह दिया जाय, ये दो हो गए, तो वह तुरंत सीख जाता है। कुछ बड़ा हो जाने पर बालक में 'भाव-संवेदन'-संबंधी पदार्थों में 'रुचि' उत्पन्न होने लगती है। जहाँ बालकों में अपनी 'अम्मा' का ज़िक्र चलता है, तो सब बड़ी 'रुचि' से उसकी चर्चा करते हैं। शिक्षक का कर्तव्य है कि स्थूल पदार्थों के बाद उन सूक्ष्म पदार्थों में बालक की रुचि उत्पन्न करे जो शिक्षा में सहायक हैं। अंत में, जब बालक में, 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' उत्पन्न हो जाय, तब उसमें सत्य, न्याय आदि भावों के प्रति 'रुचि' उत्पन्न कराना आसान हो जाता है।

'अर्जित रुचि' (Acquired Interest) बढ़ते-बढ़ते 'स्वाभाविक रुचि' (Native Interest)-जैसी ही बन जाती है। एक आदमी आजीविका के लिये हिसाब का काम सीखता है। पहले उसकी यह रुचि स्वाभाविक न थी, परंतु काम करते-करते उसकी हिसाब में 'स्वाभाविक रुचि' हो जाती है। उससे जब बात करें, वह हिसाब की ही बात करता है, और किसी चीज़ में उसे 'रुचि' ही नहीं होती। शिक्षक को चाहिए कि सत्य, न्याय, दया आदि जीवनोपयोगी भावों के लिये बालक में इसी प्रकार की रुचि उत्पन्न कर दे, बिना प्रयत्न के उसकी इन बातों में रुचि हो। 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' जब किसी बालक में उत्पन्न हो जाता है, तब इस प्रकार की अवस्था स्वयं आ जाती है।

'रुचि' के क्रमिक विकास को हमने देखा। परंतु 'रुचि' किन बातों पर आश्रित है, किन बातों के होने पर रुचि होगी, और किनके न होने पर नहीं होगी? इस विषय में तीन नियम हैं:—

(क). 'रुचि' उसी विषय में होगी, जिस विषय में हमारा 'पूर्ववर्ती ज्ञान' (Apperceptive mass) कुछ-न-कुछ बन चुका होगा। जिस बात से बालक बिलकुल अनभिज्ञ है, उसके विषय में उसकी 'रुचि' उत्पन्न नहीं हो सकती। इसीलिये कहा जाता है कि शिक्षा 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ़ जानी चाहिए, 'अज्ञात' का 'ज्ञात' से कोई-न-कोई संबंध जोड़ देना चाहिए।

(ख). इसी प्रकार जिस चीज़ को बालक कई बार देख चुका है, सुन चुका है, उसमें उसकी कोई 'रुचि' नहीं होगी। वह नई चीज़ देखना चाहता है, उसमें 'जिज्ञासा' (Curiosity) काम कर रही है। वह 'अज्ञात' की तरफ़ जाना चाहता है, परंतु वह 'अज्ञात' को 'ज्ञात' के सहारे से ही समझ सकता है। जो शिक्षक एक ही बात को दोहराते रहते हैं, वे अपने विषय के प्रति 'रुचि' उत्पन्न नहीं कर सकते। एक ही बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये दोहराने की ज़रूरत हो, तो शिक्षक को चाहिए कि वह उसे भिन्न-भिन्न तौर से, नए-नए ढँग से कहे, तभी बालकों की उसमें 'रुचि' उत्पन्न होगी।

(ग). जिस मात्रा में किसी बात का सुख-दुःख के अनुभव के साथ संबंध जोड़ा जा सकेगा, अपने 'स्व' के साथ संबंध जोड़ा

जा सकेगा, उतनी मात्रा में वह वस्तु 'रुचिकर' अथवा 'अरुचि-कर' हो जायगी। इसके कई दृष्टांत पहले दिए जा चुके हैं।

३. अवधान (Attention)

जैसा कहा जा चुका है, 'अवधान' का आधार 'रुचि' है। 'रुचि' के हमने दो भेद किए थे: 'प्राकृतिक' तथा 'अर्जित'। 'प्राकृतिक रुचि' वह होती है, जिसमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता; 'अर्जित' में प्रयत्न करना पड़ता है, उसे सीखना पड़ता है। क्योंकि 'अवधान' का आधार 'रुचि' है, इसलिये 'अवधान' के भी दो भेद हैं: 'प्राकृतिक रुचि' पर आश्रित 'अवधान', जिसे 'प्रयत्न-रहित' अथवा 'अनैच्छिक' (Involuntary) भी कहा जा सकता है, तथा 'अर्जित रुचि' पर आश्रित 'अवधान', जिसे 'सप्रयत्न' अथवा 'ऐच्छिक' (Voluntary) भी कहा जा सकता है।

'अनैच्छिक अवधान' में 'प्राकृतिक रुचि' काम करती है, इसलिये उसमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता, बालक का ध्यान अपने-आप उधर जाता है। 'अनैच्छिक अवधान' का नियंत्रण निम्न-लिखित तीन नियमों से होता है:—

(क). किसी हद तक, जिस अनुपात में 'विषय' (Stimulus) की मात्रा बढ़ती जायगी, उसी अनुपात में बालक का ध्यान भी बढ़ता जायगा। धीमे प्रकाश की अपेक्षा तेज़ प्रकाश, मध्यम आवाज़ की अपेक्षा ऊँची आवाज़, फीके रँग की अपेक्षा गाढ़ा रँग बालक का ध्यान जल्दी खेंच लेता है।

(ख). 'विषय' (Stimulus) में परिवर्तन भी बलक का

ध्यान अपने-आप खींच लेता है। बालक रो रहा है, अगर उसके सामने गुलाब का फूल धर दिया, जाय तो वह चुप हो जाता है। बड़े होने पर भी मनुष्य नवीनता की तरफ़ भागता है। पाठ्य-क्रम में विविध विषयों का समावेश इसी दृष्टि से किया जाता है।

(ग). 'विषय' के साथ हमारे सुख-दुःख के संबंध पर भी ध्यान आश्रित रहता है। बालक बीसियों को देखता है, परंतु उस का ध्यान किसी की तरफ़ नहीं खिंचता, इतने में वह अपनी माँ को देखता है, झट-से उसका ध्यान अपनी माँ की तरफ़ खिंच जाता है। इसका कारण यही है कि माता के साथ उसकी अनेक सुख की स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं।

उक्त तीनो प्रकार के 'अनैच्छिक अवधान' (Involuntary Attention) में 'प्राकृतिक रुचि' काम करती है। 'ऐच्छिक अवधान' (Voluntary Attention) में ध्यान अपने-आप नहीं हो जाता, उसे 'प्रयत्न' से उत्पन्न करना पड़ता है। 'अनैच्छिक अवधान' का आधार 'रुचि' (Interest) है; 'ऐच्छिक अवधान' का आधार 'प्रयत्न' (Effort) है, 'व्यवसाय' (Will) है। इसमें हमारा ध्यान अपने-आप किसी विषय की तरफ़ नहीं जाता, परंतु प्रयत्न के द्वारा, व्यवसाय करके, हम ध्यान को उधर खींचते हैं।

'अनैच्छिक अवधान' 'प्राकृतिक रुचि' (Instinct-interest) की वस्तुओं की तरफ़ जाता है। पहले-पहल बालक का ध्यान स्थूल चीज़ों की तरफ़ खिंचता है। शिक्षक का कर्तव्य है

कि स्थूल चीज़ों के साथ सूक्ष्म चीज़ों का संबंध जोड़कर बालक के ध्यान को भावात्मक पदार्थों की तरफ़ ले आए, उसकी रुचि स्थूल में ही सीमित न रहे, सूक्ष्म में भी उत्पन्न हो जाय। सूक्ष्म वस्तुओं में जब बालक की रुचि उत्पन्न होने लगती है, तब उसके अवधान को 'ऐच्छिक अवधान' कहा जाता है। शिक्षक को चाहिए कि 'ऐच्छिक अवधान' को बढ़ाते-बढ़ाते ऐसा बना दे कि बालकों के लिये वह स्वाभाविक हो जाय, प्राकृतिक हो जाय, अनैच्छिक हो जाय।

'ऐच्छिक अवधान' का नियंत्रण निम्न चार नियमों से होता है:—

(क). मन का प्रतिपाद्य विषय के लिये तैयार होना या न होना ध्यान का पहला नियम है। अगर हम किसी बात के लिये तैयार हैं, तो वह एकदम ध्यान को खींच लेती है, अगर तैयार नहीं हैं, तो उस तरफ़ ध्यान नहीं खिंचता। हम अपने किसी मित्र के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। कमरे में ज़रा-सी आहट होती है, हम तुरंत उठकर देखने लगते हैं। हम उसके आने के लिये तैयार थे, इसलिये हल्की-सी आहट से भी हमारा ध्यान उसकी तरफ़ खिंच जाता है। अब कल्पना कीजिए कि हम उसके आने की प्रतीक्षा नहीं कर रहे। वह आ जाता है, और ज़ोर-ज़ोर से पुकारता है। हम उसकी आवाज़ से भली प्रकार परिचित हैं, परंतु कुछ देर तक आवाज़ सुनकर भी नहीं पहचान पाते। जब उसे देखते हैं, तब कह उठते हैं, अरे तुम यहाँ कहाँ? अगर

हम उसकी प्रतीक्षा कर रहे होते, उसके लिये तैयार होते, तब ऐसा न होता। शिक्षक के लिये यह नियम बड़ा आवश्यक है। अगर कोई बात पढ़ाने से पहले बालकों का मन उस विषय के लिये तैयार कर दिया जाय, तो उनका ध्यान बड़ी आसानी से उस विषय की तरफ़ खिंच जाता है। 'रुचि' के प्रकरण में हम लिख चुके हैं कि जिस विषय में बालक का 'पूर्ववर्ती ज्ञान' बन चुका हो, उसी में उसे 'रुचि' उत्पन्न होती है। इसी नियम को 'अवधान' के प्रकरण में हमने उक्त प्रकार से कहा है।

(ख). ध्यान का दूसरा नियम 'नवीनता' है। जो चीज़ नई होगी, वह ध्यान को शीघ्र ही खींच लेगी। शिक्षक को चाहिए कि बालक को नई-नई बातें बतलाए। परंतु क्योंकि शिक्षक को कई बार एक ही बात को बालकों के दिमाग़ में गाड़ने के लिये दोहराना पड़ता है, इसलिये उसे ऐसे समय में एक ही बात के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालना चाहिए। इस प्रकार पुरानी बात भी नए रूप में आकर बच्चे का ध्यान खींच लेती है। 'रुचि' के प्रकरण में भी इस नियम का प्रतिपादन करते हुए कहा गया था कि बालक में 'जिज्ञासा' का भाव जन्म है है। उस 'जिज्ञासा' का शिक्षक को लाभ उठाना चाहिए।

(ग). जो 'विषय' (Stimulus) ध्यान को खींचता से उसके सबल तथा निर्बल होने पर भी ध्यान का सबल होना अथवा निर्बल होना आश्रित रहता है। 'विषय' बाहर भी हो सकता है, अंदर भी। गाढ़े-गाढ़े रँग की तस्वीरें बालकों का ध्यान

आकर्षित कर लेती हैं। ये सबल 'बाह्य विषय' (External Stimulus) हैं। एक बालक परीक्षा में प्रथम आने के उद्देश्य से खूब ध्यान से पढ़ता है। यह सबल 'आंतर विषय' (Internal Stimulus) है। बालक दंड के भय से, पारितोषिक के लोभ से, माता-पिता को प्रसन्न करने की इच्छा से, और ऊँची अवस्था में पहुँचकर, अपने 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' की प्रेरणा से अनेक कार्य करते हैं। ये सब प्रेरणाएँ 'आंतर विषय' (Internal Stimuli) हैं, और 'ऐच्छिक अवधान' में सहायक हैं। 'रुचि' के प्रकरण में हमने लिखा था कि जिस बात का 'स्व' से संबंध होता है, उसमें 'रुचि' उत्पन्न हो जाती है। 'अवधान' का उक्त नियम 'रुचि' के ही तीसरे नियम से निकला है।

(घ). जिस समय ध्यान देना हो उस समय शरीर में तथा मन में ध्यान देने की कितनी शक्ति है, इस बात पर भी 'ऐच्छिक अवधान' आश्रित रहता है। शारीरिक अथवा मानसिक थकावट के समय ध्यान नहीं जमता। बीमार बच्चे किसी गूढ़ विषय की तरफ़ ध्यान नहीं दे सकते। प्रातःकाल दिमाग़ तथा शरीर ताज़ा होता है, इसलिये उस समय दोपहर की अपेक्षा अधिक ध्यान लगता है। एक ही स्थिति में बैठे-बैठे बालक थक जाते हैं, इसलिये उनका ध्यान उचट जाता है। शिक्षक को चाहिए कि उन्हें खड़ा होने, चलने-फिरने का मौक़ा दे। कभी किसी बालक को 'श्यामपट' पर बुला ले, कभी किसी को। इससे 'ऐच्छिक अवधान' में सहायता मिलती है।

हमने 'अनैच्छिक' तथा 'ऐच्छिक' अवधान के भेद को बतलाते हुए कहा था कि 'अनैच्छिक' में 'रुचि' (Interest) काम कर रही होती है, 'ऐच्छिक' में 'प्रयत्न' (Effort) अथवा 'व्यवसाय' (Will)। परंतु यहाँ पर यह समझ लेना ज़रूरी है कि 'प्रयत्न' द्वारा 'अवधान' उत्पन्न करना कृत्रिम साधन है। प्रयत्न से यह तो हो सकता है कि हम किसी चीज़ में लगे रहें, परंतु उस लगने में क्रियाशीलता, वेग, तेज़ी तब तक उत्पन्न नहीं हो सकती जब तक 'रुचि' की सहायता न ली जाय। हम जर्मन पढ़ रहे हैं, बड़ी कोशिश करते हैं, 'प्रयत्न' तथा 'व्यवसाय' के सारे स्रोत बहा देते हैं, परंतु अंत में पुस्तक उठाकर अलग रख देते हैं। अस्ल में, 'ऐच्छिक अवधान' में भी 'प्रयत्न' की जगह 'रुचि' का समावेश करने का उद्योग करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, 'ऐच्छिक अवधान' को भी 'अनैच्छिक' ही बनाने की कोशिश करना चाहिए तभी, असली अर्थों में, किसी विषय में हमारा ध्यान लग सकता है। 'रुचि' प्राकृतिक बातों में, स्थूल बातों में, खाने-पीने की बातों में होती है, अतः 'ऐच्छिक अवधान' का प्रारंभ भी स्थूल बातों से ही होगा। परंतु इसका यह मतलब नहीं है कि शिक्षक अंत तक बालक की प्राकृतिक इच्छाओं को सामने रखकर ही अपना एक-एक क़दम उठाए। यह तो शिक्षा शुरू करने का तरीक़ा होना चाहिए। आगे चलकर 'रुचि' को 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' में बदल देना चाहिए, और बालक के अवधान का स्रोत यही स्थायी भाव हो जाना चाहिए।

हमने देख लिया कि 'अवधान' क्या है? 'अवधान' के विषय में मनोवैज्ञानिकों ने कई परीक्षण किए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि एक समय में मन में कितनी बातें रक्खी जा सकती हैं, एक चीज़ पर कितनी देर ध्यान टिक सकता है, एक ही समय में कितने काम हो सकते हैं; इत्यादि। हम इन परीक्षणों का संक्षिप्त परिचय देकर 'अवधान' के प्रकरण को समाप्त करेंगे:—

(क). 'अवधान का विस्तार' (Span of Attention)—मन एक समय में एक ही वस्तु का ग्रहण कर सकता है, या कई का इकट्ठा, इस संबंध में जो परीक्षण हुए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि हम पाँच वस्तुओं तक को एक ही समय में अवधान में ला सकते हैं। अगर पाँच बिंदु, पाँच गोलियाँ, पाँच अक्षर या पाँच रेखाएँ सेकंड के $\frac{१}{१००}$वें भाग से लेकर $\frac{१}{८}$ भाग तक सामने रक्खी जायँ, तो मन उनका एकदम ग्रहण कर लेता है, इनसे अधिक वस्तुओं का नहीं। इसी प्रकार अगर पाँच शब्द, पाँच त्रिभुजें, या पाँच अन्य बड़ी वस्तुएँ सामने लाई जायँ, तो उनका भी मन युगपद्-ग्रहण कर सकता है। 'जेस्टाल्ट-वाद' के अनुसार हमें 'अवयवी' का एकसाथ ज्ञान होता है, यह पहले कहा जा चुका है। शब्द, त्रिभुज आदि 'अवयवी' हैं, अक्षरों तथा रेखाओं से बने हैं, इनका युगपद्-ग्रहण 'जेस्टाल्ट-वाद' की पुष्टि करता है।

(ख). 'अवधान का विचलन (Fluctuation of Attention)—एक वस्तु पर हम कितनी देर तक ध्यान दे सकते हैं? कभी-कभी हमारा ध्यान एक ही वस्तु पर घंटों जमा रहता है।

क्या वास्तव में उस समय हमारा ध्यान उसी वस्तु पर जमा होता है ? परीक्षणों से सिद्ध हुआ है कि ऐसी बात नहीं है। अगर हम अपने सामने एक सुई रखकर उस पर ध्यान केंद्रित करने लगें, और अपने एक मित्र को पास बैठा लें, और जब-जब ध्यान उचटे, तब-तब उँगली उठा दें, तो पता लगेगा कि एक मिनट में हमारा ध्यान कितनी ही बार उचट जाता है। साधारणतया ५ या ६ सेकंड तक ही ध्यान केंद्रित रहता है। कम-से-कम ३ तथा अधिक-से-अधिक २५ सेकेंड तक ध्यान केंद्रित रह सकता है। जो लोग समझते हैं कि वे इससे अधिक समय तक ध्यान केंद्रित कर सकते हैं, वे अगर विचार करेंगे, तो उन्हें पता लग जायगा कि अधिक देर तक का ध्यान तब होता है जब हम विषय के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करने लगते हैं। हम सुई पर देर तक सोचना चाहते हैं, तो कभी उसकी लंबाई पर सोचने लगते हैं, कभी उसके पतलेपन पर, कभी उसके संबंध में किसी और विषय पर। शिक्षक के लिये विद्यार्थियों का एक ही विषय पर ध्यान केंद्रित करने का यह सर्वोत्तम उपाय है।

(ग). 'अवधान का विभाग' (Division of Attention)—हम एक ही समय में कितने काम कर सकते हैं ? जिन बातों में ऐच्छिक ध्यान की जरूरत नहीं होती, वे तो कई इकट्ठे किए जा सकते हैं ; चलते हुए बात करना भी हो सकता है ; परंतु प्रश्न यह है कि 'ऐच्छिक अवधान' में हम कितने काम इकट्ठे कर सकते हैं। इस बात का पता लगाने के लिये निम्न परीक्षण

किया जा सकता है। पहले एक मिनट तक अयुग्म संख्या गिनो और देखो कि १, ३, ५, ७, ६ के क्रम से एक मिनट में तुम कितने अंक बोल सकते हो। यह संख्या नोट कर लो। इसके बाद वर्णमाला के अक्षर क, ख, ग आदि लिखो। एक मिनट तक जितने अक्षर लिखे जायँ, उनकी संख्या नोट कर लो। अब दोनो काम एक-साथ एक मिनट तक करके देखो। अक्षर लिखते जाओ, और विषम संख्या बोलते जाओ। इस परीक्षण का परिणाम यह होगा कि पहले की अपेक्षा कम अक्षर लिखे जायँगे, और कम संख्या बोली जायगी। अगर इस समय ध्यान देकर देखा जाय, तो पता लगेगा कि मन दोनो में से कभी एक तरफ़ ध्यान देता है, कभी दूसरी तरफ़। वह दोनो विषयों को करना चाहता है, अतः 'प्रयत्न' की सहायता लेता है। परंतु 'प्रयत्न' कभी अक्षर लिखने की सहायता करने लगता है, कभी संख्या बोलने की, दोनो की एक-समान सहायता नहीं कर सकता, और इसलिये पहले की अपेक्षा कम तथा निचले दर्जे का काम होता है।

(घ). 'ध्यान में बाधा' (Distraction)—बाधा से ध्यान में विक्षेप पड़ता है, यह सर्व-साधारण का अनुभव है। परंतु कभी-कभी बाधा से 'अवधान' साधारण की अपेक्षा अधिक काम कर बैठता है। जब बाधा उपस्थित होती है, तब मन उस बाधा का मुक़ाबिला करने के लिये साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक 'व्यवसाय-शक्ति' (Will-power) को उत्पन्न कर देता है, और मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा काम कर देता है। शिक्षक

को चाहिए कि बालक के सामने कोई प्रश्न (Problem) रख दे, यह प्रश्न उसके सम्मुख बाधा के रूप में उपस्थित होगा, और वह इसे हल करने के लिये साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक व्यवसाय-शक्ति को उत्पन्न करेगा। इस दृष्टि से 'बाधा' कभी-कभी अवधान का कारण बन जाती है।

(ङ). 'ध्यान का केंद्रीकरण' (Concentration of Attention)—ध्यान का केंद्रीकरण तब होता है, जब हम अवधान के क्षेत्र को सीमित कर देते हैं। हम पुस्तक को पढ़ना चाहते हैं। जब तक एक-एक अध्याय पर अपना ध्यान नहीं केंद्रित कर देते, तब तक ध्यान उथला रहता है, गहराई तक नहीं जाता, और उस विषय का बोध भी यथार्थ-बोध तक नहीं पहुँचता। ध्यान के केंद्रीकरण के लिये किसी 'प्रयोजन' (Purpose) का मन में होना ज़रूरी है। 'प्रयोजन' वह केंद्र है जिसके इर्द-गिर्द अवधान बड़ी आसानी से चक्कर काटने लगता है। अगर हमें किसी चीज़ पर ध्यान लगाना है, तो उसके संबंध में मन में कोई-न-कोई 'प्रयोजन' अवश्य उत्पन्न कर लेना चाहिए। जो शिक्षक बालकों के हृदय में 'प्रयोजन' (Purpose)उत्पन्न कर देता है, वह उनके ध्यान को केंद्रित करने में अवश्य सफल होता है।

४. थकान

ध्यान के केंद्रित न होने का मुख्य कारण 'रुचि' न होना है। जब पाठ रोचक न हो तब बालक इधर-उधर देखने लगते हैं, अध्यापक की बात सुनने में ध्यान नहीं देते। इस अवस्था में

शिक्षक का दोष होता है, उसे अपने पाठ को रुचिकर बनाना चाहिए। परंतु कभी-कभी थकान भी अनवधान का कारण होती वे। काम करते-करते थक जाना स्वाभाविक है। शिक्षक को इन दोनों में भेद करना चाहिए। ऐसा न हो कि बालक पाठ के अरोचक होने से ध्यान न दे रहे हों, और वह समझने लगे कि है थकान के कारण पाठ में ध्यान नहीं दे रहे।

थकान दो तरह की होती है, शारीरिक तथा मानसिक। शारीरिक थकान शरीर से अधिक काम लेने पर होती है। काम करते समय शरीर की मांसपेशियों में गति होती है। इस गति से मांसपेशी में कुछ रासायनिक परिवर्तन हो जाते हैं। पहले मांसपेशी की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) थी, गति करने के बाद उसकी प्रतिक्रिया अम्लीय (Acid) हो जाती है। शरीर में गति करने से मांसपेशियों में लगभग ऐसे रासायनिक परिवर्तन होते हैं जैसे बंदूक़ में गोली चलने से होते हैं। गोली चलने से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उससे गोली तेज़ चली जाती है, और बंदूक़ की नाली गर्म हो जाती है। इसी प्रकार मांसपेशी की गति से जो रासायनिक परिवर्तन होते हैं, उनसे शरीर में शक्ति उत्पन्न होती है, और साथ ही गर्मी भी उत्पन्न होती है। यह शक्ति ही काम के रूप में दिखाई देती है। परंतु इस शक्ति को उत्पन्न करने में 'अम्ल' भी उत्पन्न हो जाता है, इस अम्ल का नाम 'कार्बनिक अम्ल' (Carbonic Acid) है। यह अम्ल रुधिर में मिलता जाता है, और यही थकावट का कारण है। जिस प्रकार की-

रासायनिक क्रिया शारीरिक थकावट में होती है, इसी प्रकार की मानसिक थकावट में भी होती है। मन की प्रत्येक गति का आधार दिमाग़ है। दिमाग़ में वह भाग जहाँ चेतना रहती है, जिसे हमने भूरे रँग का पदार्थ या 'कॉरटैक्स' कहा था, वहाँ पर वे ही परिवर्तन होने लगते हैं, जो शारीरिक परिवर्तन में मांस-पेशी में होते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क में कार्बनिक अम्ल तथा अन्य विष-युक्त पदार्थों का बढ़ जाना मानसिक थकावट को उत्पन्न कर देता है।

'कार्बनिक अम्ल' को शरीर में से निकालने का साधन फेफड़े हैं। फेफड़ों में अम्ल-मिश्रित रुधिर-शिराएँ पहुँचती हैं, उनमें शुद्ध वायु भी पहुँचती है। शुद्ध वायु का 'ओषजन' रुधिर में चला जाता है, और शिराओं का 'कार्बनिक अम्ल' गैस के रूप में, फेफड़ों की वायु के द्वारा, साँस के ज़रिए, बाहर निकल जाता है। इसीलिये शारीरिक अथवा मानसिक थकावट के बाद कुछ व्यायाम कर लेना, गहरे-गहरे साँस ले लेना थकावट को दूर कर देता है।

शारीरिक थकावट शरीर के किसी एक हिस्से में या संपूर्ण शरीर में हो सकती है। इसी प्रकार मानसिक थकावट किसी एक विषय में या संपूर्ण मानसिक कार्य में हो सकती है। एक-देशीय थकावट को दूर करने के लिये काम को बदल देना सर्वोत्तम उपाय है, संपूर्ण शरीर तथा मन की थकावट को तो आराम से और नींद से ही दूर किया जा सकता है।

थकान 'अरुचि' तथा 'अनवधान' का मुख्य कारण है, इसलिये शिक्षक को इस विषय पर सदा सचेत रहना चाहिए। बालकों के बैठने, उठने के ढंग बदलते रहना चाहिए, लगातार लिखने या लगातार देखने का ही काम नहीं देना चाहिए, भिन्न-भिन्न कार्यों का ऐसा संमिश्रण करना चाहिए जिससे एक विषय के बाद दूसरा ऐसा विषय पढ़ाया जाय जिसमें उन अंगों को खुद-ब-खुद आराम मिल जाय जिनसे पहले विषय के अध्ययन के समय काम लिया गया था। इस दृष्टि से समय-विभाग के बनाने में बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लेना चाहिए। बीच-बीच में बालकों को आराम भी देना चाहिए, उन्हें लगातार पढ़ाई में जोते नहीं रखना चाहिए।

एकादश अध्याय

'स्मृति' तथा 'प्रत्यय-संबंध'

'सविकल्पक ज्ञान' (Perception) में पदार्थ हमारे सम्मुख होता है, और हम उस पर विचार करते हैं। परंतु अगर हम पदार्थ के सम्मुख होने पर ही विचार कर सकें, उसके सम्मुख न होने पर न कर सकें, तब तो बड़ी मुश्किल हो जाय, हर समय पदार्थ को सम्मुख कैसे लाया जाय? इसलिये मन में एक प्रक्रिया होती है जिससे पदार्थ अपनी प्रतिमा हमारे मन में छोड़ जाता है, और हम पदार्थ के सम्मुख न होते हुए भी उसकी प्रतिमा अपने सम्मुख ला सकते हैं, और उस पर विचार कर सकते हैं। इससे विचार करना बहुत आसान हो जाता है। इसी प्रक्रिया को 'स्मृति' के नाम से पुकारा जाता है। 'मानसिक प्रतिमा' तथा 'विचार' का आधार 'स्मृति' ही है। जिन चीज़ों को हम पहले देख चुके हैं उनके संस्कार हमारे दिमाग़ में पड़ जाते हैं, वे हमारी स्मृति के हिस्से बन जाते हैं, और इन संस्कारों, इन स्मृतियों, इन मानसिक प्रतिमाओं के आधार पर ही हमारी संपूर्ण विचार-परंपरा चलती है। इसी दृष्टि से कई लोग कल्पना (Imagination) तथा विचार (Thinking) को भी स्मृति के अंतर्गत ही गिनते हैं। ये विषय परस्पर इतने संबद्ध हैं कि हम

अगले तीन अध्यायों में स्मृति (Memory), कल्पना (Imagination), तथा विचार (Thinking) पर क्रमशः विवेचन करेंगे।

पाँचवें अध्याय के प्रारंभ में हमने बतलाया था कि मन की मुख्य शक्तियाँ तीन हैं : 'हॉर्म', 'नेमे' तथा 'संबंध।' 'हॉर्म' का वर्णन प्राकृतिक शक्तियों के प्रकरण में काफ़ी हो चुका है। इस अध्याय में हमें 'नेमे' तथा 'संबंध' पर ही विचार करना है।

१. 'स्मृति' (Memory)

हमने दस साल हुए श्यामलाल को देखा था, आज श्यामलाल हमारे सामने नहीं, परंतु हम उसकी चर्चा कर रहे हैं, यह कैसे? इसका उत्तर मनोविज्ञान के पंडित दो तरह से देते हैं। 'आत्म'-वादी तो कहते हैं कि आत्मा के दो रूप हैं, 'उद्भूत' (Conscious) तथा 'अनुद्भूत' (Sub-conscious)। 'उद्भूत-' आत्मा पर जो संस्कार पड़ते जाते हैं, वे 'अनुद्भूत' में संचित होते जाते हैं, और आत्मा को जिस समय जिन संस्कारों की जरूरत होती है वे उसके 'अनुद्भूत' रूप में से 'उद्भूत' रूप में आ जाते हैं। इस प्रकार वे लोग स्मृति को आत्मा का गुण मानते हैं, उसकी शक्ति (Faculty) मानते हैं। परंतु अगर स्मृति आत्मा की स्वतंत्र-शक्ति (Faculty) हो, तो जिस समय आत्मा किसी बात को याद करना चाहे, वह झट-से याद आ जानी चाहिए। परंतु ऐसा नहीं होता। हम जिस बात को याद करना चाहते हैं, ध्यान में लाना चाहते हैं, वह कभी-कभी चेतनता से

परे-परे भागती जाती है, लाख कोशिश करने पर भी हाथ नहीं आती। इसलिये स्मृति आदि को आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ मानने का विचार मनोविज्ञान के क्षेत्र में पुराना समझा जाने लगा है। अब मनोविज्ञान के पंडित इस विचार को नहीं मानते। वे लोग भूतकाल की स्मृति का उत्तर मस्तिष्क की रचना से देते हैं। उन लोगों का कहना है कि मस्तिष्क में संस्कारों को संचित करने की एक प्रक्रिया होती है, जिसे 'संचय-शक्ति' (Conservation) कहते हैं। प्रत्येक अनुभव मस्तिष्क के भीतर के कोष्ठों में संचित होता रहता है। जब हमने श्यामलाल को दस साल हुए देखा था, तो उसके संस्कार हमारे 'ज्ञान-वाहक तंतुओं' में से होकर 'बड़े दिमाग़' (Cerebrum) के भूरे रँगवाले भाग 'कॉरटैक्स' में जाकर जमा हो गए थे। 'कॉरटैक्स' में लाखों-करोड़ों 'तंतु-कोष्ठ' (Nerve cells) हैं। श्यामलाल को देखने से इन कोष्ठों में श्यामलाल के संस्कार पड़ गए थे, और वे संस्कार संचित (Conserved) हो गए थे। इस समय जब कि हम श्यामलाल को याद कर रहे हैं, वे ही संस्कार जाग गए हैं। परंतु पूछा जा सकता है कि संस्कारों के संचित होने से क्या अभिप्राय है ? श्यामलाल का जो अनुभव हुआ था, क्या वह अनुभव मस्तिष्क में संचित रहता है ? अगर यह बात है, तब तो 'आत्मवादी' भी तो यही मानते थे कि आत्मा के 'अनुद्भूत रूप' में संस्कार जमा होते रहते हैं, उन्हीं को 'स्मृति' कहते हैं। इसके उत्तर में मस्तिष्क को स्मृति का भौतिक आधार माननेवाले कहते हैं कि नहीं, मस्तिष्क में श्यामलाल का 'अनुभव'

नहीं संचित होता, मस्तिष्क के तंतु-कोष्ठों पर श्यामलाल की तस्वीर खिंच जाती है। अर्थात् श्यामलाल को देखकर तंतु-कोष्ठों में परिवर्तन हो जाता है, श्यामलाल को देखने से पहले वे जैसे थे, वैसे अब नहीं रहते। जिस प्रकार किसी अच्छे गानेवाले का फ़ोनोग्राफ़ में रिकार्ड भरा जाता है, फ़ोनोग्राफ़ पर लगी मोम पर कुछ चिह्न से पड़ जाते हैं, और जब उस रिकार्ड को ग्रामोफ़ोन पर चढ़ाया जाता है, तो वे ही संस्कार जो पहले लिखे गएथे, उद्भूत रूप में आकर गाने के रूप में प्रकट हो जाते हैं, इसी प्रकार जब हम कोई चीज़ देखते, सुनते, सूँघते, छूते हैं, तब उसका असर मस्तिष्क के फ़ोनोग्राफ़ पर होता है, अर्थात् उसके तंतु-कोष्ठों में परिवर्तन हो जाता है, और समय आने पर वे तंतु-कोष्ठ स्मृति को जाग्रत् कर देते हैं। 'अनुभव' संचित नहीं होता, 'तंतु-कोष्ठों' की रचना में ही परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन को 'संस्कार-लेखन' (Engram Complexes) कहते हैं। अनुभव अपने-आप तो नहीं रहता, परंतु अपने पीछे 'तंतु-कोष्ठों' में 'परिवर्तन', 'संस्कार' (Modifications, Dispositions) छोड़ जाता है। प्रत्येक अनुभव से 'तंतु-कोष्ठों' की पहले की रचना में परिवर्तन हो जाता है, और क्योंकि उस अनुभव के लिये तंतु-मार्ग (Nervous Path) बन चुका होता है, इसलिये दुबारा उस अनुभव का ग्रहण आसान हो जाता है, और साथ ही उसका उद्बोधन भी आसान हो जाता है। इस दृष्टि से स्मृति का भौतिक आधार 'कॉर्टैक्स' के 'तंतु-कोष्ठों' (Nerve Cells)

की 'संचय-प्रक्रिया' (Conservation) है, इसी को 'नेमे' कहा जाता है।

इस 'संचय-प्रक्रिया' की अपनी भिन्न-भिन्न तहें हैं। हम एक पाठ को याद करते हैं, वह भूल जाता है। क्या बिल्कुल भूल जाता है? अगर हम भूले हुए पाठ को दुबारा याद करें, तो पहले की अपेक्षा जल्दी याद हो जाता है। क्यों? अगर वह बिल्कुल भूल गया था, तो अब भी उतनी ही देर लगनी चाहिए थी, जितनी पहले लगी थी। वास्तव में बात यह है कि पहले का याद किया हुआ भूल तो गया, परंतु उसके कुछ-कुछ संस्कार (Impressions) मस्तिष्क में ज़रूर बचे रहे, तभी तो दुबारा याद करने पर पाठ जल्दी स्मरण हो गया। यह 'स्मृति' की सबसे निचली तह है। कभी-कभी हम देखते हैं कि ज़बानी बतलाने से हमें एक चीज़ याद नहीं आती, वही सामने कर देने से हम उसे पहचान जाते हैं। पदार्थ के सम्मुख होने पर उसे पहचानना—'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition) कहाता है, और यह स्मृति की दूसरी तह है। 'संस्कार' तथा 'प्रत्यभिज्ञा' के बाद स्मृति की तीसरी तह वह है जब हम वस्तु को सम्मुख लाए बिना ही, उसकी प्रतिमा को मन में ला सकते हैं, और उसे पहचान लेते हैं। किसी ने श्यामलाल का नाम लिया, और तुरंत हमारे मन में श्यामलाल की प्रतिमा उपस्थित हो गई। यह 'प्रत्याह्वान' (Recall) कहाता है, और यही स्मृति की सबसे ऊँची तह है।

हमने देख लिया कि जो संस्कार 'कॉरटैक्स' के कोष्ठों में

संचित हो जाते हैं, उन्हें 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति का बल 'संस्कार', 'प्रत्यभिज्ञा' तथा 'प्रत्याह्वान' तक हो सकता है। स्मृति का असली उद्देश्य प्रत्यभिज्ञा, और उससे भी बढ़कर 'प्रत्याह्वान' है। विषय के उपस्थित न होने पर हम उसकी प्रतिमा (Imagery) को मन में ला सकें, तभी तो संसार के कारोबार चल सकते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया का नियंत्रण करनेवाले मुख्य तौर से तीन नियम माने जाते हैं :—

(क). 'संस्कार-प्रसक्ति' (Perseveration)—जो संस्कार हम पर पड़ते हैं, उनमें से सबका गहरा असर नहीं पड़ता, परंतु कभी-कभी कोई संस्कार अपनी अमिट छाप डाल देता है। हम रेल-गाड़ी में सफ़र कर हैं, एक आदमी खिड़की में से बाहर झाँक रहा है, इतने में खिड़की का दरवाज़ा खिसक पड़ा, उसकी उँगली कट गई, ख़ून की धार बह चली। घटना बीत गई, परंतु रह-रहकर उसकी स्मृति ताज़ी हो उठती है, भुलाए नहीं भूलती, मानों सारा चित्र आँखों के सामने खिंचा रहता है। हम कोई गाना सुन रहे हैं, एक स्वर ऐसा सुनाई पड़ता है कि हम गुनगुनाने लगते हैं, और वह स्वर गाना समाप्त हो जाने के बाद भी अनायास हमारे मुँह से निकलने लगता है। इसे 'संस्कार-प्रसक्ति' (Perseveration) कहते हैं। जो संस्कार मस्तिष्क के कोष्ठों पर पड़े हैं, इतने गहरे हैं, इतने जबर्दस्त हैं कि हमें उन्हें उद्बुद्ध करने के लिये 'प्रयत्न' या 'व्यवसाय' नहीं करना पड़ता, वे ख़ुद-ब-ख़ुद उद्बुद्ध हो जाते हैं। शिक्षक को नई बात बालक के सम्मुख इस ढंग से रखनी

चाहिए कि देखते ही उसके दिमाग़ में घर कर ले, दिमाग़ में मानों प्रसक्त हो जाय, चिपट जाय, उसे छोड़े ही नहीं। जिस चीज़ को बालक ठीक तौर से समझ जाता है, जिस चीज़ के विषय में उसके मन में अस्पष्ट विचार नहीं रहते, बिल्कुल स्पष्ट हो जाते हैं, वह अपने-आप स्मृति में जा गड़ती है। इसलिये किसी बात को याद करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि रटाने के बजाय शिक्षक उसे ख़ूब अच्छी तरह से समझा दे, बालकों के हृदय में उसके विषय में कोई संदेह न रहे। इसीलिये जिस चीज़ में उनका अवधान होता है उसे उन्हें याद करने की ज़रूरत नहीं रहती, वह स्वयं याद हो जाती है। 'अवधान' किसी बात को समझने में सहायक है, इसलिये 'अवधान' भी स्मृति में बड़ी सहायता करता है।

'प्रसक्ति' जहाँ संस्कार की प्रबलता पर निर्भर है, वहाँ मस्तिष्क की अवस्था पर भी बहुत-कुछ अवलंबित रहती है। किसी बात की तरफ़ हमारा ध्यान है, किसी की तरफ़ नहीं, किसी व्यक्ति में हमारी रुचि है, किसी में नहीं, इन बातों के कारण भी संस्कार कभी सबल और कभी निर्बल हो जाता है। ताज़े दिमाग़ पर संस्कार आसानी से असर करते हैं, थके पर उतनी आसानी से उनका असर नहीं होता।

(ख). 'रटन' (Rote Memory)—किसी चीज़ को दोहराने से वह याद हो जाती है। बचपन में पहाड़े याद कराए जाते हैं, [illegible]ग का क्रम याद कराया जाता है, यह सब 'रटन' है।

कई लोग 'रटन' को 'स्मृति' न गिनकर 'आदत' मानते हैं। बर्गसन का कथन है कि 'रटन' में हम एक बात को बार-बार दोहराते हैं, उसमें मन के द्वारा विचार-शक्ति का प्रयोग नहीं करते। किसी चीज़ का बार-बार होना 'आदत' (Habit Memory) है, ठीक अर्थों में स्मृति (True Memory) नहीं। प्राचीन शिक्षा-विज्ञान में 'रटन' पर ही अधिक ज़ोर दिया जाता था, आजकल इस पर अधिक ज़ोर नहीं दिया जाता, संबंध स्थापित करके याद करना अच्छा समझा जाता है।

(ग). 'प्रत्यय-संबंध' (Association of Ideas)—'स्मृति' का तीसरा नियम 'प्रत्यय-संबंध' का नियम है। हम सैर करने मसूरी गए थे। सुमित्रा हमारे साथ थी, वह बीमार पड़ गई थी, हमने डॉक्टर को बुलाया था। अब 'मसूरी' का नाम सुनकर हमें सुमित्रा याद आ सकती है, सुमित्रा का नाम सुनकर डॉक्टर याद आ सकता है, डॉक्टर का नाम सुनकर वह कमरा याद आ सकता है जिसमें सुमित्रा बीमार पड़ी थी। डॉक्टर, मसूरी, सुमित्रा के भिन्न-भिन्न प्रत्यय, भिन्न-भिन्न विचार हमारे मस्तिष्क में हैं, और उन सबका परस्पर इस प्रकार का संबंध है कि किसी एक के सामने आने से कोई-सा भी याद आ जाता है। इसी को 'प्रत्यय-संबंध' का नियम कहते हैं। स्मृति के लिये यह नियम इतना आवश्यक तथा आधार-भूत है कि इस पर विस्तार से अलग विचार करना असंगत न होगा। इसलिये इस पर हम कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

२. 'प्रत्यय-संबंध' (Association of Ideas)

हमने 'स्मृति' का भौतिक आधार बतलाते हुए कहा था कि दिमाग़ के भूरे रंगवाले हिस्से में, जिसे 'कॉरटेक्स' कहते हैं, लाखों और करोड़ों तंतु-कोष्ठ (Nerve Cells) होते हैं। इन कोष्ठों में संस्कारों के संचय को ही स्मृति कहते हैं। सुमित्रा मसूरी में बीमार पड़ी। इस घटना से मस्तिष्क में क्या परिवर्तन हुआ ? मस्तिष्क में एक कोष्ठ पर सुमित्रा की छाप पड़ी, दूसरे पर मसूरी की, तीसरे पर डॉक्टर की। परंतु यह तो एक प्रक्रिया हुई, दूसरी प्रक्रिया यह हुई कि जब तीनों कोष्ठों पर एक-साथ छाप पड़ रही थी, तब इन तीनों का परस्पर एक दूसरे के साथ तांतवीय संबंध भी पैदा हो गया था। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ काल बाद जब कोई एक कोष्ठ जाग्रत् हुआ, तो उसने पूर्व तांतवीय संबंध के कारण दूसरे को भी जगा दिया, और हमें पुरानी सब बातें इकट्ठी याद हो आईं। यही 'कोष्ठ-संबंध' 'प्रत्यय-संबंध' का कारण है। 'प्रत्यय' कोष्ठों में संचित रहते हैं, 'कोष्ठों' का संबंध जुड़ गया, तो 'प्रत्ययों' का संबंध तो अपने-आप जुड़ गया। मस्तिष्क में यह 'संबंध-शक्ति' (Cohesion) मौजूद रहती है, इसका हम पहले भी ज़िक्र कर चुके हैं। कई विचारक तो मन की प्रत्येक प्रक्रिया को 'प्रत्यय-संबंध-वाद' की दृष्टि से ही देखते रहे हैं। इसका ऐतिहासिक विवेचन हम दूसरे अध्याय में कर आए हैं।

पूछा जा सकता है कि एक 'प्रत्यय' का दूसरे 'प्रत्यय' के साथ

संबंध कैसे होता है ? मनोवैज्ञानिकों ने इस विषय पर निम्न दो नियमों का प्रतिपादन किया है :—

(क). 'अव्यवधानता' (Contiguity)—हम मसूरी गए थे, वहाँ हमारी डॉ० राथके से भेंट हुई थी, वहीं एक दिन पं० जयगोपाल भी मिले थे। अब डॉ० राथके का नाम सुनकर मसूरी की याद आ सकती है, पं० जयगोपाल की याद आ सकती है, मसूरी का नाम सुनकर डॉ० राथके और पं० जयगोपाल दोनो की याद आ सकती है। यह देश-कृत 'अव्यवधानता' का दृष्टांत है। इसी प्रकार काल-कृत अव्यवधानता हो सकती है। कल हमारे यहाँ प्रो० परमात्माशरण आए थे, उनके साथ उनके एक शिष्य भी थे। अब हम उनके शिष्य को देखकर प्रोफ़ेसर साहब के विषय में पूछने लगते हैं, और प्रोफ़ेसर साहब को देखकर उनके शिष्य के विषय में। काल-कृत अव्यवधान में देश-कृत अव्यवधान अंतर्निहित रहता है, देशकृत अव्यवधान में कालकृत अव्यवधान का अंतर्निहित रहना ज़रूरी नहीं। कभी-कभी कार्य से कारण का और कारण से कार्य का स्मरण हो आता है। यह संबंध भी अव्यवधान के अंतर्गत ही समझना चाहिए।

(ख). 'समानता' (Similarity)—दो समान वस्तुओं अथवा अनुभवों में अगर समानता हो, तो एक के स्मरण से दूसरी का स्मरण हो आता है। हम एक वृद्ध-पुरुष को देखते हैं, उसके बाल सफ़ेद हैं, दाढ़ी लहरा रही है, उसे देखते ही हमें अपने पितामह का स्मरण हो आता है। इसी प्रकार एक ही वस्तु से

उसके विपरीत गुणों की वस्तु का भी संकेत मिल जाता है। इसे 'वैधर्म्य संबंध' (Dissimilarity) कहते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने 'वैधर्म्य संबंध' को 'समानता' के अंदर ही माना है।

कई लेखक 'समानता' को 'अव्यवधानता' से पृथक् नहीं मानते। डमविल महोदय का कथन है कि 'समानता' में कुछ अंश 'अव्यवधानता' का अवश्य रहता है। जब हम एक वृद्ध पुरुष की लंबी दाढ़ी देखते हैं, तो क्या हमें 'समानता' के कारण अपने पितामह का स्मरण हो आता है? 'समानता' तो केवल दाढ़ी में है, अतः केवल दाढ़ी की 'समानता' का स्मरण होना चाहिए। बात यह है कि दाढ़ी की 'समानता' देखकर तो पितामह की दाढ़ी का ही स्मरण होता है, परंतु क्योंकि पितामह की दाढ़ी के साथ उनके चेहरे, उनके हाथ-पाँव आदि संपूर्ण शरीर की 'अव्यवधानता' है, अत: संपूर्ण पितामह का स्मरण हो आता है। इसीलिये डमविल ने कहा है कि 'समानता' में 'अव्यवधानता' रहती है।

'प्रत्यय-संबंध' के मूलभूत नियम तो उक्त दो ही माने जाते हैं, परंतु मनोविज्ञान के पंडितों ने कुछ गौणभूत नियमों का भी प्रतिपादन किया है, जिनके कारण प्रत्ययों के संबंध के बल का निर्णय होता है। ये नियम 'अव्यवधानता' तथा 'समानता' दोनो में काम करते हैं, और निम्न हैं :—

(क). 'नवीनता' (Recency)—जो बात अभी हाल ही में हो चुकी हो, उसका संबंध बहुत प्रबल होता है, और उसकी स्मृति भी शीघ्र हो जाती है। हम अभी पं० श्रीधर पाठक का

'भारत-गीत' पढ़ रहे थे। वैसे तो उनके अनेक काव्य-ग्रंथ हैं, परंतु अगर कोई पाठकजी का नाम ले, तो हमें एकदम 'भारत-गीत' का स्मरण हो आता है। यह इसलिये नहीं कि हमें उनके अन्य किसी ग्रंथ का ज्ञान ही नहीं, अपितु इसलिये क्योंकि हाल ही में हम इस ग्रंथ को पढ़ रहे थे।

(ख). 'पुनरावृत्ति' (Frequency)—अगर एक वस्तु या विचार के साथ दूसरे का बार-बार संबंध होता रहे, तो दोनो में से किसी एक के सम्मुख आने पर दूसरे का हमें ध्यान आ जाता है। पानी का नाम लेते ही ठंडक का, घास का नाम लेते ही हरियावल का, आकाश का नाम लेते ही नीलिमा का बोध इसी अभ्यास के कारण है। ये अभ्यास तो सर्वगत हैं, कई अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने होते हैं। 'फल' का नाम लेते ही सब्ज़ी बेचनेवाले के मन में अनार का, पंडित के मन में 'कर्म-फल' का, लोहार के मन में 'चाक़ू के फलके' का विचार उत्पन्न हो जाता है ; 'कोश' का नाम लेते ही पंडित के मन में 'अमर-कोश' का, महाजन के मन में 'ख़ज़ाने' का, रेशम के कीड़े पालनेवाले के मन में 'रेशम के कीड़े के घर' का विचार आ जाता है। यह सब आदत के कारण है, उन शब्दों के साथ जिसका जो संबंध रहा है, वही विचार उसके मन में आ जाता है।

(ग). 'प्रथमता' (Primacy)—जो प्रभाव हम पर पहले पड़ जाता है, वह अक्सर अंत तक बना रहता है। किसी भले आदमी के विषय में उससे मिलते ही हमारी प्रतिकूल सम्मति

बन जाय, तो उसे दूर करना कठिन हो जाता है। बचपन के संस्कार मिटाए नहीं मिटते। पहले प्रभाव में अपने को चिर-स्थायी बनाने की शक्ति होती है।

(घ). 'प्रबलता' (Vividness)—विशद अनुभव बड़ी प्रबलता से हम पर प्रभाव जमा लेता है, और उसके प्रभाव में इतना बल होता है कि अन्य प्रतिस्पर्धी भाव भी उसके प्रभाव को दूर नहीं कर सकते। चाहे उस अनुभव को हुए सालों बीत गये हों, परंतु वह मूर्तिमान् होकर आँखों के सम्मुख खड़ा हो जाता है, भुलाए नहीं भूलता। 'पुनरावृत्ति' का नियम तो सुनार की चोट करता है, 'प्रबलता' का नियम लोहार की चोट करता है। उस दिन दयाराम बैलगाड़ी को दौड़ा रहा था, बैल ज़ोर से दौड़े जा रहे थे, रास्ते में एक खंभे से टकरा-कर गाड़ी उलट गई, दयाराम की टाँग लोहू-लुहान हो गई, हड्डी निकल आई, वह ज़ोर-ज़ोर से चीख़ने लगा, हमने इस संपूर्ण दृश्य को देखा, और इसका हम पर यह प्रभाव पड़ा कि अब हम जब भी दयाराम को देखते हैं, पुरानी सब घटना ताज़ी हो जाती है।

(ङ). 'रुचि' की अधिकता या न्यूनता (Interest)—'प्रत्यय-संबंध' का अंतिम कारण 'रुचि' है। जिस बात में हमें रुचि होती है, उसका संबंध मस्तिष्क में स्थापित हो ही जाता है, उसे दोहारने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

किसी विद्यार्थी के संबंध (Associations) किस प्रकार

के हैं, इस पर 'परीक्षात्मक मनोविज्ञान' में कई परीक्षण किए गए हैं। वे परीक्षण बड़े रोचक हैं, इसलिये उनका यहाँ दे देना असंगत न होगा। इन परीक्षणों में दो प्रणालियों से काम लिया जाता है : 'क्रमिक प्रणाली' तथा 'प्रतिक्रिया प्रणाली'।

(क). 'क्रमिक प्रणाली' (Serial Method) का परीक्षण—जिस व्यक्ति पर परीक्षण किया जाय उसे कोई एक शब्द देकर कहा जाता है कि इस शब्द के बाद जो शब्द तुम्हें याद आए, लिख दो, उस शब्द के बाद अगला जो शब्द ख़याल आये उसे भी लिख दो, और इसी प्रकार अगला-अगला शब्द जिस-जिस शब्द को याद कराता जाय, उसे लिखते जाओ। इस प्रकार एक क्रमिक शृंखला तैयार हो जाती है, और उसके आधार पर हम देख सकते हैं कि नवीनता, अभ्यास, प्रथमता, प्रबलता, रुचि में से कौन-सा नियम संबंध को दृढ़ करने में काम कर रहा है। अगर हमने पहला शब्द 'आँख' दिया, उससे अगला किसी ने 'ऐनक' लिख दिया, 'ऐनक' से उसे 'अमेरिका' का ख़याल आया, तो सोचने से इन सब शब्दों का उस व्यक्ति के मस्तिष्क में कोई-न-कोई संबंध अवश्य ढूँढा जा सकता है, जो 'अव्यवधानता' तथा 'समानता' के अंतर्गत होगा, और जिसके सबल या निर्बल होने में नवीनता, अभ्यास आदि नियमों से काम हो रहा होगा।

(ख). 'प्रतिक्रिया प्रणाली' (Reaction Method) का परीक्षण—इस प्रणाली में पहले एक शब्द कहा जाता या

लिखा हुआ दिखाया जाता है, और जिस व्यक्ति पर परीक्षण किया जा रहा है वह, जो शब्द उसे सबसे पहले ध्यान में आया, उसे लिख देता है। इस प्रकार दस-बीस शब्द उसके सामने बोले जाते हैं, और वह भी, उन शब्दों को सुनते ही जो शब्द उसे ध्यान में आते हैं, उन्हें लिख देता है। इन शब्दों पर विचार किया जाय, तो इनमें भी उक्त नियम काम करते हुए दीख जाते हैं।

हमने कहा था कि 'प्रत्यय-संबंध' स्मृति के तीन नियमों में से एक है, परंतु यह इतना आवश्यक नियम था कि इस पर हमें विस्तार से लिखना पड़ा। अब हम फिर 'स्मृति' की तरफ़ आते हैं।

३. 'स्मृति'-विषयक परीक्षण

जिस प्रकार 'संबंध' (Association) के विषय में उक्त परीक्षण किए गए हैं, इसी प्रकार स्मृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर भी कई परीक्षण किए गए हैं। यह पता लगाया गया है कि किसी चीज़ को देखने या सुनने के ठीक बाद कितना याद रह जाता है, जो स्मरण किया जाय उसमें कितने समय में कितना भूल जाता है, इत्यादि। 'स्मृति' के संबंध में ये परीक्षण बड़े महत्त्व के हैं, अतः हम इनका वर्णन करेंगे।

(क). 'स्मृति-विस्तार' (Span of Memory)—स्मृति के दो रूप हैं, 'तात्कालिक' तथा 'स्थिर'। 'तात्कालिक स्मृति' (Immediate Memory) वह है जो किसी विषय को

देखने, सुनने, याद करने के ठीक बाद हम में पाई जाती है; 'स्थिर-स्मृति' (Permanent Memory) वह है, जो याद करने के कुछ देर बाद पाई जाती है। 'स्थिर-स्मृति' का आधार 'प्रत्यय-संबंध' है, इसे 'यथार्थ-स्मृति' (True Memory) भी कहते हैं। 'तात्कालिक-स्मृति' का आधार तंतु-कोष्ठों पर संस्कारों की तात्कालिक प्रभाव डालने की शक्ति, 'संस्कार-प्रसक्ति', (Perseveration) है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, बर्गसन 'अभ्यास-स्मृति' को स्मृति में न गिनकर 'आदत' (Habit) में गिनता है। 'तात्कालिक-स्मृति' प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती है। इसी को परखने के परीक्षण 'स्मृति-विस्तार' के परीक्षण कहाते हैं।

किसी व्यक्ति की 'तात्कालिक-स्मृति' को परखने के लिये उसके सम्मुख निरर्थक शब्द दोहराए जाते हैं, फिर उसे उन शब्दों को स्मृति द्वारा उद्‌बुद्ध करने को कहा जाता है। कल्पना कीजिए कि हमने किसी के सम्मुख पङ, क्लन, णांग की तरह के बीस शब्द बोले, और पहली ही बार उसने दस शब्द दोहरा दिए। इस व्यक्ति की 'स्मृति का विस्तार' उस व्यक्ति से अच्छा होगा जो पहली बार में केवल पाँच शब्द दोहरा सकता है। सार्थक शब्दों का प्रयोग इसलिये नहीं किया जाता कि उनका परस्पर किसी-न-किसी प्रकार का संबंध जुड़ जाने से हम 'तात्कालिक-स्मृति' को नहीं परख सकते। म्यूमेन ने 'स्मृति-विस्तार' के संबंध में परीक्षण करके यह परिणाम निकाला है कि १३ वर्ष की आयु

तक बालक में 'तात्कालिक-स्मृति' की धीरे-धीरे वृद्धि होती है, १२ से १६ तक यह वृद्धि तेज़ हो जाती है, और १६ से २५ तक यह अपने उच्च शिखर पर पहुँच जाती है। उसके बाद इसमें कमी आने लगती है। परंतु जिस व्यक्ति में 'तात्कालिक-स्मृति' अधिक हो उसमें 'स्थिर-स्मृति' भी अधिक होगी, यह बात नहीं है। 'स्थिर-स्मृति' में विचारों का परस्पर संबंध जोड़ना पड़ता है, और इसलिये 'तात्कालिक-स्मृति' अधिक होने पर भी, बुद्धि का विकास न होने के कारण, किसी में 'स्थिर-स्मृति' की कमी हो सकती है।

(ख). 'स्मृति' तथा 'विस्मृति' (Remembering and Forgetting)—'तात्कालिक-स्मृति' किसी चीज़ को देखने के ठीक उपरांत उसका स्मरण करना है। परंतु कुछ देर ठहरकर अगर हम उसी बात को याद करने की कोशिश करें, तो वह बहुत कम याद रह जाती है। भूलने की रफ़्तार के विषय में एब्बिन-हाउस ने १८८५ में कुछ परिणाम निकाले थे, जो बड़े महत्त्व के हैं। परीक्षणों के आधार पर उसने पता लगाया कि याद करने के २० मिनट बाद ५८ प्रतिशत याद रह जाता है, बाक़ी भूल जाता है। इसी प्रकार १ घंटे बाद ४४ प्रतिशत, ६ घंटे बाद ३६ प्रतिशत, एक दिन बाद ३७ प्रतिशत, दो दिन बाद २८ प्रतिशत, छः दिन बाद २५ प्रतिशत और तीस दिन बाद ११ प्रतिशत याद रहता है, बाक़ी भूल जाता है। इसका यह परिणाम निकला कि पढ़ने के आध घंटे बाद लगभग आधा भूल जाता है, दो-तिहाई

आठ घंटे के बाद भूल जाता है, तीन-चौथाई छः दिन के बाद भूल जाता है, अर्थात् शुरू-शुरू में भूलने की रफ़्तार ज्यादा होती है, और उत्तरोत्तर कम होती जाती है। इसलिये विद्यार्थियों को चाहिए कि अपने पाठ को आध घंटे के अंदर-ही-अंदर दोहरा लें, इस प्रकार परिश्रम कम पड़ता है, और मस्तिष्क में संचित अधिक हो जाता है।

(ग). 'प्रत्यभिज्ञा' तथा 'प्रत्याह्वान' (Recognition and Recall)—हमने स्मृति की तीन तहें बतलाते हुए कहा था कि स्मृति की पहली सतह तो वह है, जो किसी बात को भूल जाने पर भी 'संस्कारों' के रूप में रहती है, दूसरी वह है जिसे 'प्रत्यभिज्ञा' कहना चाहिए, तीसरी को 'प्रत्याह्वान' कहते हैं। 'प्रत्यभिज्ञा' तथा 'प्रत्याह्वान' में भेद यह है कि 'प्रत्यभिज्ञा' में वस्तु के सम्मुख होने पर हम उसे पहचानते हैं, 'प्रत्याह्वान' में वस्तु के सम्मुख न होने पर, मानसिक प्रतिमा (Imagery) द्वारा हम उसे पहचान लेते हैं। 'प्रत्याह्वान' (Recall) से ही स्मृति का असली उद्देश्य सिद्ध होता है। हमने पाँचो इंद्रियों से जो कुछ अनुभव किया है, अगर हम उसका मानसिक प्रतिमाओं के रूप में प्रत्याह्वान न कर सकें, तो विचार-परंपरा असंभव हो जाय। जिस बालक में 'प्रत्याह्वान' की जितनी शक्ति अधिक होगी उसकी स्मृति उतनी ही अधिक होगी। 'प्रत्यभिज्ञा' तथा 'प्रत्याह्वान' का भेद अधिक स्पष्ट करने के लिये वेलन्टाइन महोदय ने अपने कुछ विद्यार्थियों पर परीक्षण किए हैं। ६४ बालकों पर

परीक्षण किया गया, जिनमें से ५४ में 'प्रत्याह्वान' की अपेक्षा 'प्रत्यभिज्ञा' अधिक पाई गई। इसी प्रकार ७५ बालकों पर परीक्षण किया गया, जिनमें से ६७ में 'प्रत्याह्वान' की अपेक्षा 'प्रत्यभिज्ञा' अधिक पाई गई। परीक्षण इस प्रकार किया जा सकता है कि २० निरर्थक शब्द लेकर उनमें से पहले १० शब्द बालकों को तीन-चार बार सुनाए जाते हैं। कुछ देर ठहरने के बाद उन्हें इन शब्दों का 'प्रत्याह्वान' करने को कहा जाता है। जो बालक जितने शब्दों का 'प्रत्याह्वान' कर सके, उसके नाम के साथ उतनी संख्या लिख दी जाती है। इसके बाद इन दस को बचे हुए दस शब्दों के साथ मिलाकर बीसों शब्दों को इकट्ठा पढ़ दिया जाता है, और उन्हें उन शब्दों को पहचानने के लिये कहा जाता है, जिन्हें वे पहले सुन चुके हैं। ऐसे परीक्षण किए गए और उनका परिणाम यह निकला कि बालक जिन शब्दों का 'प्रत्याह्वान' नहीं कर सके थे, उनमें से इस बार बहुतों को पहचान जाते हैं।

(घ). 'मानसिक प्रतिमा' तथा 'स्मृति'—हमने अभी कहा कि स्मृति में 'प्रत्याह्वान' सबसे ज्यादा ज़रूरी है। 'प्रत्याह्वान' में क्या होता है? हमारे सम्मुख पदार्थ नहीं होता, परंतु हम पहले के संस्कारों के आधार पर उसकी मानसिक कल्पना कर सकते हैं, उसकी प्रतिमा (Image) सामने ला सकते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी उस 'प्रतिमा' के साथ उस समय का 'संवेदन' और 'उद्वेग' भी उत्पन्न हो जाता है। दिवंगत माता की उस दृष्टि को, जो प्राण त्यागते हुए उसने हम पर डाली थी,

कौन भुला सकता है, और उसके याद आते ही किसके आँसू नहीं निकल पड़ते। यह कल्पना-शक्ति (Power of Imagery) प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न होती है, और प्रत्येक इंद्रिय की अपनी-अपनी होती है। आँखों से देखी हुई, कानों से सुनी हुई, हाथों से छुई हुई, जीभ से चखी हुई, नासिका से सूँघी हुई चीजों की हम मानसिक कल्पना कर सकते हैं, और इन्हें क्रमशः 'दृष्टि-प्रतिमा', 'श्रवण-प्रतिमा', 'स्पर्श-प्रतिमा', 'रस-प्रतिमा', तथा 'घ्राण-प्रतिमा' कहा जाता है। किसी बात को स्मृति में दृढ़ करने के लिये शिक्षक को कई प्रतिमाओं का संबंध जोड़ देना चाहिए। 'दवात' बोलते हुए अगर दवात दिखा भी दी जाय, तो 'श्रवण-प्रतिमा' तथा 'दृष्टि-प्रतिमा' का संबंध जुड़ जाता है, और बालक की स्मृति में 'दवात'-शब्द पुष्ट हो जाता है। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति में 'दृष्टि-प्रतिमा' अधिक स्थिर होती है, और इसलिये शिक्षक को प्रत्येक वस्तु दिखाने का प्रबंध करना चाहिए। प्रतिमा-कल्पना की योग्यता को परखने के लिये निम्न परीक्षण किए जा सकते हैं—

(१). आँखें बंद करके अपने सम्मुख एक रेखा की कल्पना करो। अब इस रेखा को कल्पना में ही बढ़ाओ। क्या बढ़ जाती है? अब घटाओ। क्या घट जाती है?

(२). कान बंद करके कल्पना करो कि गाड़ी सीटी दे रही है। क्या सीटी सुनाई देती है? इसी प्रकार प्रत्येक इंद्रिय के संबंध में परीक्षण किए जा सकते हैं। जिसमें 'प्रतिमा-कल्पना' अधिक होगी, उसे स्मृति में अवश्य सहायता मिलेगी। कई बालक

एक प्रकार की 'प्रतिमा-कल्पना' कर सकते हैं, दूसरे प्रकार की नहीं ; इसलिये जब शिक्षक अनेक बालकों को इकट्ठा पढ़ा रहा हो, तो उसे बालकों के सम्मुख भिन्न-भिन्न इंद्रियों की 'प्रतिमा-कल्पना' को ध्यान में रखते हुए पढ़ाना चाहिए।

(ङ). 'स्मृति-वृद्धि'—क्या स्मृति-शक्ति बढ़ सकती है ? स्मृति के मोटे तौर पर दो भाग किए जा सकते हैं : 'रटंत' (Rote Memory) तथा 'प्रत्यय-संबंध पर आश्रित स्मृति' (Rational Memory)। रटंत का अर्थ है, संस्कारों को संचित करने की मस्तिष्क में वर्तमान स्वाभाविक योग्यता। इसे 'सामान्य-स्मृति' (General Memory) भी कहा जा सकता है। 'प्रत्यय-संबंध' तथा 'रुचि' आदि पर आश्रित स्मृति को 'विशेष-स्मृति' (Specific Memory) कहा जाता है। 'विशेष-स्मृति' के विषय में कोई विवाद नहीं है। हमारे विचार एक दिशा में एक दूसरे से जितने संबद्ध होंगे, जितनी हमारी उनमें रुचि होगी, उतने ही अधिक वे याद भी किए जा सकेंगे। 'सामान्य-स्मृति' के विषय में विद्वानों में मतभेद है। जेम्स का कथन है कि चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाय, 'सामान्य-स्मृति' नहीं बढ़ सकती। हाँ, थकावट, बीमारी आदि के कारण न्यूनता-अधिकता आ सकती है। मैग्डूगल तथा मिस स्मिथ ने कुछ परीक्षण किए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि 'सामान्य-स्मृति' भी बढ़ सकती है। परंतु अधिकतर यही विचार माना जाता है कि 'सामान्य-स्मृति' नहीं बढ़ती।

इस संबंध में वेलन्टाइन ने एक परीक्षण किया है। उसने

तीस बालकों की एक कक्षा को दस-दस के तीन हिस्सों में बाँट दिया। एक हिस्से को १५ दिन तक रोज़ आधा घंटा कविता रटने को दी गई, दूसरे को उतने ही दिनों और उतने समय तक फ्रेंच भाषा के शब्द रटने को दिए गए, तीसरे हिस्से को रटने का कोई काम नहीं दिया गया। इसके बाद तीनों हिस्सों को निरर्थक शब्द, कविता आदि याद करने के लिए दिए गए। जिस हिस्से ने कविता याद की थी उसने कविता याद करने में १५ फ़ी सदी उन्नति दिखलाई, जिसने शब्द याद करने में अभ्यास किया था, उसने निरर्थक शब्द रटने में २० फ़ी सदी उन्नति दिखलाई, और जिस हिस्से ने याद करने का कोई काम नहीं किया था, उसमें कोई उन्नति दिखाई नहीं दी। इस परीक्षण से कई लोग यह परिणाम निकाल सकते हैं कि अभ्यास से रटने की शक्ति में उन्नति हो सकती है, परंतु इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यह उन्नति वास्तव में रटने की शक्ति के बढ़ जाने के कारण नहीं है, अपितु स्मरण करने के उन्नत तरीक़े इस्तेमाल करने के कारण है। जिन बालकों ने कविता तथा शब्द रटे थे, उन्हें रटते-रटते कविता तथा शब्द याद करने के नए-नए ढँग सूझ गए थे, और उन्हीं का उन्होंने नई चीज़ों को याद करने में इस्तेमाल किया था।

(च). 'स्मृति-संक्रमण' (Transference of Memory)—अभी जिस परीक्षण का हमने वर्णन किया, इसे कई लोग 'स्मृति-संक्रमण' का दृष्टांत कहेंगे। हमने कविता याद की, और कविता याद करने की शक्ति बढ़ गई। प्राचीन

मनोवैज्ञानिकों का मत था कि कविता अथवा अन्य किसी विषय के याद करने से केवल कविता स्मरण करने की ही नहीं, अपितु सब प्रकार के स्मरण की शक्ति में वृद्धि होती है। भारतवर्ष में भी व्याकरण तथा अमर-कोश के रटने पर बहुत बल दिया जाता रहा। स्मरण शक्ति ही नहीं, अपितु अन्य शक्तियों के विषय में भी उनका यही विचार था। गणित से गणित-शक्ति को ही नहीं, अपितु 'विचार-शक्ति' को भी उत्तेजन मिलता है। एक विषय में उपार्जित की हुई शक्ति दूसरे में सहायक होती है। इस प्रकार वे लोग मन की भिन्न-भिन्न 'शक्तियाँ' (Faculties) मानकर उनका एक विषय से दूसरे में 'संक्रमण' (Transference) मानते थे, और स्मृति-शक्ति को बढ़ाने के लिये बचपन में खूब घोटा लगवाते थे। आजकल के मनोवैज्ञानिक मन में इस प्रकार की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ नहीं मानते, वे स्मृति, विचार आदि को मानसिक-प्रक्रिया मानते हैं, और मन को भिन्न-भिन्न शक्तियों का समूह मानने के स्थान पर, भिन्न-भिन्न मानसिक प्रक्रियाओं का नियोक्ता मानते हैं। अनेक शक्तियाँ मिलकर मन नहीं बनता, मन स्वयं एक अखंड सत्ता है, जो अनेक मानसिक प्रक्रियाओं के रूप में काम करता है। इस दृष्टि से 'स्मृति-संक्रमण' होता तो है, परंतु उतना ही जितना उस विषय का दूसरे विषय के साथ संबंध होता है। अगर किसी ने कविता याद की, तो उसकी स्मृति गणित के क्षेत्र में नहीं, भाषा, साहित्य आदि के क्षेत्र में ही सहायक होगी। अगर मनोवैज्ञानिक लोग

'स्मृति-शक्ति' को कोई अलग शक्ति मानें, तब तो उसका 'संक्रमण' भी मानें, परंतु वे स्मृति को अलग 'शक्ति' के रूप से नहीं मानते, इसलिये स्मृति का संक्रांत होना भी नहीं मानते। जहाँ 'स्मृति-संक्रमण' दिखाई देता है, वहाँ स्मृति संक्रांत नहीं होती, अपितु स्मरण करने के तरीक़े जो एक विषय में प्रयुक्त किए जाते हैं दूसरे में भी सहायक सिद्ध हो जाते हैं।

(छ). स्मरण करने की विधियाँ—स्मृति के विषय में परीक्षणों के आधार पर स्मरण करने की विधियाँ निर्दिष्ट की गई हैं, उन्हीं का उल्लेख कर हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

(१). 'विभक्त स्मरण' (Distributed or Spaced Learning)—परीक्षणों से यह पता लगा है कि अगर एक विषय को याद करने के लिये हम लगातार दो घंटे लगाने के बजाय रोज़ बीस-बीस मिनट छः दिन तक लगाएँ, तो वह अधिक अच्छी तरह याद होती है। एक ही वक़्त में एक-साथ याद करने के बजाय पाठ को भिन्न-भिन्न समयों में विभक्त करके याद करना अधिक लाभकर है। इसका एक कारण तो यह है कि इसमें थकान कम होती है। दूसरी बात यह है कि इसमें 'संस्कार-प्रसक्ति की प्रक्रिया' (Perseveration Process) कई बार दोहराई जाती है, जिससे पाठ दिमाग़ में गड़ जाता है। तीसरी बात यह है कि कई दिनों तक लगातार देखने से भूलने का जो बीच में व्यवधान पड़ सकता है, वह नहीं पड़ता।

(२). 'पठन' तथा 'उदाहार' (Reading and

Recitation)—अगर पाठ याद करते हुए कोई लगातार पढ़ता चला जाय, तो इतना याद नहीं होगा जितना पहले कुछ पढ़े और फिर उसी को बिना किताब देखे दोहराने का यत्न करे। बिना पुस्तक देखे, पढ़े हुए पाठ के ऊँचे-ऊँचे दोहराने को 'उदाहार' कहते हैं। गेट महोदय ने 'पठन' तथा 'उदाहार' के संबंध में कई परीक्षण किए हैं और यह परिणाम निकाला है कि 'उदाहार' में जितना समय दिया जाय, उतना ही स्मृति के लिये सहायक होता है।

(३). 'खंडशः' अथवा 'समग्र' स्मरण (Sectional or Entire Method)—कविता को किस प्रकार याद करना चाहिए? प्रचलित तरीक़ा यह है कि बालक कविता के खंड अलग-अलग याद कर लेते हैं, इसमें उन्हें छोटी-छोटी पंक्तियाँ याद करने के कारण आसानी पड़ती है। परंतु पंक्तियाँ तो उन्हें याद हो जाती हैं, सारी कविता इकट्ठी याद नहीं होती। पंक्ति का प्रथम शब्द बतला दिया जाय, तो वे आगे चल देते हैं, वह शब्द न बतलाया जाय, तो अटक जाते हैं। इस दृष्टि से कई लोग समग्र कविता को याद करने पर बल देते हैं। इसमें विचारों के परस्पर संबंध बने रहने के कारण कविता जल्दी याद हो जाती है। ऐसी कविता बहुत लंबी नहीं होनी चाहिए, परीक्षण-कर्ताओं ने कहा है कि ज़्यादा-से-ज़्यादा २४० पंक्ति तक की कविता को इस प्रकार याद किया जा सकता है। परंतु छोटे बच्चों के लिये समग्र कविता याद करना कठिन होता है, इसलिये

गोपाल स्वामी महोदय ने इन दोनो रीतियों को मिलाने का परामर्श दिया है। उनका कथन है कि अगर कोई कविता याद करनी हो, तो उसके पहले तीन या चार या इससे अधिक विभाग कर लेने चाहिएँ। पहले प्रथम विभाग को स्मरण किया जाय, फिर दूसरे को, तदनंतर प्रथम तथा द्वितीय को एक-साथ। इसके बाद तृतीय को, और फिर पहले, दूसरे तथा तीसरे को एक-साथ। इसी प्रकार संपूर्ण कविता को याद किया जाय। लंबी कविताओं के लिये यह रीति उत्तम पाई गई है।

द्वादश अध्याय

कल्पना

(क). गर्मी के दिन हैं, लूएँ चल रही हैं, हम मकान के दरवाज़े बंद करके बैठे हैं। इतने में संध्या हो गई, हम नहर के किनारे जाकर घंटा भर ठंड में बैठते हैं, और वहाँ की ठंडी हवा का आनंद उठाते हैं।

(ख). नहर के किनारे बैठे हुए हमें आज लू की याद आ जाती है। कैसी गर्मी थी, हमारा शरीर पसीने से तर-ब-तर हो रहा था, हमने दरवाज़े बंद कर दिए थे, हम बाहर आने से घबराते थे, हमारे मन के सामने आज की गर्मी की, मकान की, बंद दरवाज़ों की 'प्रतिमा' उठ खड़ी होती है।

(ग). इतने में हम में से एक कह उठता है, गर्मी क्या थी, अंगारे बरस रहे थे, लू क्या थी, आग की लपटें थीं, आज का दिन क्या था, नरक की एक झाँकी थी।

१. 'प्रत्यय', 'प्रतिमा' तथा 'कल्पना' में भेद

उक्त अनुभवों में से पहला अनुभव 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' से उत्पन्न होता है, इसे 'प्रत्यय' (Percept) कहते हैं; दूसरा अनुभव 'स्मृति' से उत्पन्न होता है, इसे 'प्रतिमा' (Image) कहते हैं; तीसरा अनुभव 'कल्पना-शक्ति' से उत्पन्न होता है, इसे

'कल्पना' (Imagination) कहते हैं। 'प्रत्यय' (Percept) में विषय इंद्रिय के सम्मुख होता है, 'प्रतिमा' (Image) में विषय सामने नहीं होता; 'प्रत्यय' में विषय स्पष्ट होता है, 'प्रतिमा' में उतना स्पष्ट नहीं होता ; 'प्रत्यय' इंद्रिय पर आश्रित होता है, आँखें खोलकर और विषय की तरफ़ मुँह करके ही हम देख सकते हैं, 'प्रतिमा' में आँखें बंद करके और विषय की तरफ़ पीठ फेरकर भी हम पूर्वानुभव का स्मरण कर सकते हैं ; 'प्रत्यय' विषय के सम्मुख आते ही एकदम उत्पन्न होता है, 'प्रतिमा' धीरे-धीरे उत्पन्न होती है। जिस प्रकार 'प्रत्यय' (Percept) और 'प्रतिमा' (Image) में भेद है, इसी प्रकार 'प्रतिमा'(Image) और 'कल्पना' (Imagination) में भी भेद है। 'प्रत्यय' से अगला क़दम 'प्रतिमा' का है, और 'प्रतिमा' से अगला क़दम 'कल्पना' का है। 'प्रतिमा' का आधार 'प्रत्यय' है। पिछले 'प्रत्यय' जैसे हुए थे, वे वैसे ही याद आने लगते हैं। हम बाहर से आए, लू चल रही थी, हमने मकान में घुसते ही दरवाज़ा बंद कर दिया। इस अनुभव को स्मरण करने में आज का दिन, अपना मकान तथा अपनी क्रिया सब 'प्रत्यय' उसी रूप में याद आ जाते हैं। जिस देश तथा जिस काल में हमें अनुभव हुआ है, 'प्रतिमा' उस देश तथा काल से बँधी रहती है। 'कल्पना' का भी आधार 'प्रतिमा' है, परंतु 'कल्पना' 'प्रतिमा' की तरह देश, काल तथा अन्य पूर्व-संबंधों से बँधी नहीं रहती, स्वतंत्र रहती है। जब हम कहते हैं, गर्मी क्या है, आग बरस रही है, तब दिन में से 'गर्मी' को हम अलग

करके उसकी जगह 'आग' की कल्पना कर लेते हैं, और वर्षा में से 'बरसने' के विचार को अलग करके 'आग' के साथ जोड़ देते हैं। 'प्रतिमा' में हम पूर्वानुभव को 'पुनरुत्पन्न' (Reproduce) करते हैं; 'कल्पना' में हम पूर्वानुभव के आधार पर एक नई चीज़ 'उत्पन्न' (Produce) करते हैं। 'प्रतिमा' में 'प्रत्यय' सामने नहीं होता, पूर्वानुभव होता है, परंतु उसमें नवीनता नहीं होती; 'कल्पना' में भी 'प्रत्यय' सामने नहीं होता, इसमें भी पूर्वानुभव होता है, परंतु पूर्वानुभव वैसे-का-वैसा नहीं होता, उसमें नवीनता होती है। 'प्रतिमा' का केवल भूत से संबंध होता है, 'कल्पना' का भूत, भविष्यत् वर्तमान तीनो से संबंध हो सकता है। 'प्रतिमा' का वर्णन स्मृति के प्रकरण में हो चुका है, हम यहाँ केवल 'कल्पना' के विषय में लिखेंगे।

२. 'कल्पना' का वर्गीकरण

'कल्पना'-शब्द का विस्तृत अर्थों में भी प्रयोग हो सकता है। 'स्मृति' भी एक दृष्टि से 'कल्पना' ही है। 'स्मृति' तथा 'कल्पना' दोनो का निर्माण पूर्वानुभूत 'प्रत्ययों' से ही होता है। इस दृष्टि से 'स्मृति' तथा 'कल्पना' दोनो शुद्ध मानसिक क्रियाएँ हैं। 'स्मृति' में पूर्वानुभव जैसे-का-तैसा होता है, 'कल्पना' में कुछ नवीनता कर दी जाती है। इस दृष्टि को सम्मुख रखते हुए 'कल्पना' का मैग्डूगल तथा ड्रेवर दोनो ने वर्गीकरण किया है। मैग्डूगल महोदय ने 'कल्पना' के जो मुख्य-मुख्य भेद किए हैं वे निम्न लिखित हैं :—

क. पुनरुत्पादनात्मक कल्पना (स्मृति) (Reproductive)
ख. उत्पादनात्मक कल्पना (Productive)

रचनात्मक कल्पना (Constructive) सर्जनात्मक कल्पना (Creative)

'पुनरुत्पादनात्मक' उस 'कल्पना' का नाम है जिसमें पूर्वानुभव मानसिक प्रतिमाओं के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसका दूसरा नाम 'स्मृति' है। 'उत्पादनात्मक' कल्पना में हम पूर्वानुभव को आधार बनाकर उसमें अपनी तरफ़ से कुछ नवीनता उत्पन्न कर देते हैं। 'उत्पादनात्मक' कल्पना दो तरह की हो सकती है। हमें एक मकान बनाना है, उसका पहले से ही मन में नक़्शा बना लिया जाता है; इसी प्रकार हमें एक कहानी लिखनी है, उसका भी सॉट हम पहले से ही मन में खींच लेते हैं। इन दोनो में से पहली कल्पना 'रचनात्मक' (Constructive) है। हम भौतिक पदार्थों से एक नवीन पदार्थ—मकान—की रचना करते हैं। दूसरी 'सर्जनात्मक' (Creative) है। हम भौतिक तत्त्वों से कुछ नहीं बनाते, अपने दिमाग़ से ही नई-नई बातें उपजाते हैं।

ड्रेवर ने 'कल्पना' पर दूसरी तरह से विचार किया है। पहले तो वह मोटा विभाग करता है, जिसमें 'स्मृति' तथा 'कल्पना' दोनो आ जाते हैं। 'स्मृति' पर 'कल्पना' के प्रकरण में विचार करना अप्रासंगिक है, इसलिये इसे वह अलग छोड़ देता है। शेष रह जाती है, शुद्ध 'कल्पना'। इस 'कल्पना' के वह दो

विभाग करता है : 'आदानात्मक' (Receptive) तथा 'सर्जनात्मक' (Creative)। आगे बढ़ने से पहले 'आदानात्मक' तथा 'सर्जनात्मक' का अभिप्राय स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

'आदानात्मक कल्पना' (Receptive Imagination) हमारे प्रतिदिन के व्यवहार में काम आती है। अध्यापक बार-बार ऐसी बातों का वर्णन करता है जो बालकों ने कभी नहीं देखीं। वह ताजमहल का वर्णन करना चाहता है, बालकों ने उसे कभी नहीं देखा, वह कैसे समझाए। पहले वह शहर की बड़ी-से-बड़ी इमारत का वर्णन करता है। फिर संगमरमर के पत्थर को दिखाकर उसका वर्णन करता है। इसके बाद वह कहता है, अगर हमारे शहर की यह बड़ी इमारत सारी-की-सारी संगमरमर की हो, तो कैसी दीखे ? और अगर यह संगमरमर की इमारत बहुत बड़ी हो जाय, तब तो बस ताजमहल ही हो जाय ! इस प्रकार 'आदानात्मक' कल्पना में अध्यापक अपनी बातों का आधार उन्हीं चीज़ों को बनाता है जो बालक ने देख रक्खी हैं, जिन्हें बालक जानता है, और धीरे-धीरे उन्हीं बातों से वह बालक के मन में एक ऐसे विषय की कल्पना उत्पन्न कर देता है जिसे उसने कभी नहीं देखा। 'आदानात्मक कल्पना' के सहारे हम नई-नई बातों, नई-नई चीज़ों को देखे बिना भी उनकी कल्पना करने लगते हैं। इस कल्पना में शिक्षक को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि वह ऐसी बातों की तरफ़ न चला जाय, जिन्हें बालक जानते ही न हों। जब शिक्षक किसी बात

को समझाता हुआ ऐसी बातें कहने लगता है जो बालक की 'आदानात्मक कल्पना' को कुछ भी सहायता नहीं दे सकतीं तब बालकों का ध्यान उचट जाता है, वे इधर-उधर देखने लगते हैं। हमारे जीवन में बहुत-सा हिस्सा 'आदानात्मक कल्पना' का ही होता है। दूसरे लोग कहते हैं, और हम उनके कथन का 'आदान' करते हैं, ग्रहण करते हैं। सारी दुनिया को किसने देख रक्खा है, दूसरों के कथनों के आधार पर ही तो हमारा बहुत-सा ज्ञान निर्भर है।

'आदानात्मक' के अतिरिक्त ड्रेवर ने कल्पना का जो दूसरा विभाग किया है, वह 'सर्जनात्मक' (Creative) है। 'सर्जनात्मक कल्पना' (Creative) 'आदानात्मक' (Receptive) से ऊँचे दर्जे की है। इसमें हम दूसरे की कही बातों का आदान नहीं करते, परंतु ख़ुद कुछ सर्जन करते हैं, उत्पन्न करते हैं। 'सर्जनात्मक कल्पना' (Creative Imagination) के ड्रेवर ने मुख्य तौर से दो विभाग किए हैं : 'कार्य-साधक कल्पना' (Pragmatic Imagination) तथा 'सरस कल्पना' (Æsthetic Imagination)। 'कार्य-साधक कल्पना' वह है जिससे कोई उपयोगी कार्य सिद्ध होता हो। एक वैज्ञानिक किसी सिद्धांत की कल्पना करता है, एक इंजीनियर किसी पुल को बनाने के लिये उसका नक़्शा बनाता है, ये दोनो 'कार्य-साधक कल्पनाएँ' हैं। 'सरस कल्पना' उसे कहते हैं, जो सौंदर्य प्रधान हो। कवि कविता का पद्य रचता है, उपन्यासकार उपन्यास लिखता है, चित्रकार चित्र खींचता है, एक और आदमी बैठा-

बैठा शेख़चिल्ली के हवाई क़िले बनाता है, ये सब 'सरस कल्पनाएँ' हैं। 'कार्य-साधक' तथा 'सरस'-कल्पना में काफ़ी भेद है। 'कार्य-साधक' कल्पना का आधार भौतिक पदार्थ हैं। एक इंजीनियर पुल बनाने की कल्पना करता हुआ यह कल्पना नहीं कर सकता कि वह नदी में मट्टी के खंभे खड़े करके उनके ऊपर पुल बना दे। उसे जगत् की यथार्थता को आधार बनाकर अपनी कल्पना का निर्माण करना होता है। 'सरस'-कल्पना में मन को अधिक स्वतंत्रता मिल जाती है, उसे जगत् की यथार्थता का दास नहीं रहना पड़ता। कवि आसमान से अंगारे बरसा सकता है, कल्पना द्वारा चाँद को अपने पास बुला सकता है, नभोमंडल की थाह मापने के लिये अंतरिक्ष लोक में उड़ सकता है। 'कार्य-साधक'-कल्पना में कार्य के पूरा होने पर आनंद आता है, 'सरस'-कल्पना तो ज्यों-ज्यों चलती है, त्यों-त्यों आनंद भी आता जाता है।

'कार्य-साधक कल्पना' (Pragmatic) के फिर दो विभाग किए गए हैं: 'विचारात्मक' (Theoretical) तथा 'क्रियात्मक' (Practical)। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण शक्ति के सिद्धांत का निकालना बड़ी ऊँची 'विचारात्मक' कार्य-साधक कल्पना है। इंजीनियर का पुल की कल्पना करना 'विचारात्मक' नहीं, 'क्रियात्मक' कार्य-साधक कल्पना है। 'विचारात्मक' कल्पना में ऊँचे-ऊँचे सिद्धांत, ऊँचे-ऊँचे वाद आ जाते हैं; 'क्रियात्मक' कल्पना में पुल का, नहर का नक़्शा आदि क्रियात्मक बातों से संबंध रखनेवाली कल्पनाएँ आ जाती हैं। 'सरस-कल्पना' के

भी दो विभाग किए गए हैं। 'कला-संबंधी' (Artistic) तथा 'मन-तरंग-संबंधी' (Phantastic)। 'कला-संबंधी' सरस-कल्पना में हम व्यक्ति तथा समाज के लिये उपयोगी वस्तुओं का कल्पना द्वारा सर्जन करते हैं। कविता, नाटक, उपन्यास, चित्र इसी कल्पना के अंतर्गत हैं। 'मन-तरंग-संबंधी' सरस-कल्पना में हम व्यक्ति तथा समाज के लिये उपयोगी कल्पना का सर्जन नहीं करते। इसमें मन अपने हवाई क़िले बनाता है।

'कल्पना' के वर्गीकरण को चित्र में यों प्रकट कर सकते हैं:—
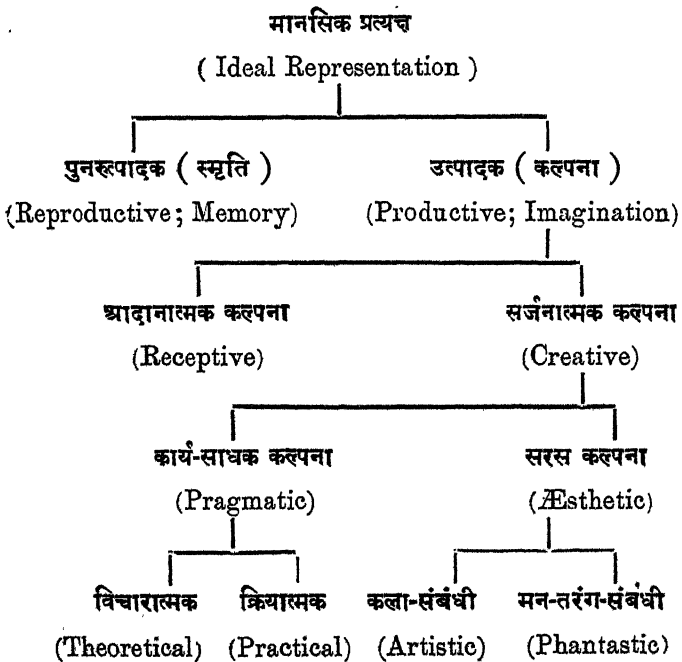
३. 'कल्पना' तथा 'शिक्षा'

'कार्यसाधक कल्पना' (Pragmatic Imagination) तथा 'सरस कल्पना' (Æsthetic Imagination) में से किसे अधिक उत्तेजन देना चाहिए, यह प्रश्न शिक्षक के लिये बड़ा आवश्यक है। आजकल का युग विज्ञान का युग है। जीवन-संग्राम भी दिनोदिन विकट होता चला जा रहा है। अगर बालक सांसारिक व्यवहार को समझनेवाला न हो, तो उसे जीवन में सफलता मिलना कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से शिक्षक को बालक में 'कार्य-साधक कल्पना' (Pragmatic Imagination) उत्पन्न करने की तरफ़ अधिक ध्यान देना चाहिए। 'कार्य-साधक कल्पना' का विकास करते हुए उसके 'विचारात्मक' तथा 'क्रियात्मक' दोनो पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए। बालक को जीवन में 'सामान्यात्मक ज्ञान' (Generalisations) का उपार्जन करना है, उसे भिन्न-भिन्न वादों तथा सिद्धांतों को सीखना है। 'विचारात्मक' कल्पना के बिना वह इस प्रकार का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है ? 'विचारात्मक' के साथ-साथ 'क्रियात्मक' कल्पना का बालक में उत्पन्न करना भी उतना ही जरूरी है। संसार क्रियात्मक लोगों के ही रहने का निवास है।

प्रश्न हो सकता है कि 'कार्य-साधक कल्पना' को उत्पन्न करने का शिक्षक के पास क्या साधन है ? हम पहले ही देख चुके हैं कि 'कल्पना' (Imagination) का आधार 'प्रतिमा' (Image) तथा 'प्रतिमा' का आधार 'प्रत्यय' (Percept)

है। 'प्रत्यय' जितना ही स्पष्ट तथा विशद होगा, 'प्रतिमा' उतनी विशद होगी, और जितनी 'प्रतिमा' विशद होगी, उतनी ही 'कल्पना' को सहायता मिलेगी। 'कल्पना' को सबल बनाने के लिये 'प्रतिमा' को सबल बनाना चाहिए, और 'प्रतिमा' को सबल बनाने के लिये 'प्रत्यय' को सबल बनाना चाहिए। 'प्रतिमा' तथा 'कल्पना' का असली आधार 'प्रत्यय' है। इस दृष्टि से शिक्षक का कर्तव्य है कि वह बालकों के 'प्रत्ययों' के निर्माण में जितना यत्न हो सके उतना करे। मॉन्टीसरी-पद्धति में बालक को नाना प्रकार के उपकरणों से घेर दिया जाता है, उसकी सब इंद्रियाँ 'प्रत्यय' ग्रहण करने में जुट जाती हैं। इतना ही नहीं, वह जितने 'प्रत्ययों' का संग्रह करता है, वे शुद्ध होते हैं, स्पष्ट होते हैं, निश्चित होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी मानसिक प्रतिमाएँ भी शुद्ध, स्पष्ट तथा निश्चित होती हैं, और इन सबल प्रतिमाओं के आधार पर जो 'कल्पना' बनती है, वह भी सबल होती है। छोटे बालक योंही इधर-उधर से अपना ज्ञान, अपने 'प्रत्यय' बटोरते हैं और उनमें अस्पष्टता तथा अशुद्धि रहने के कारण उनकी 'कल्पना' भी अस्पष्ट तथा अशुद्ध बनी रहती है। छोटे बालकों के 'प्रत्ययों' तथा 'प्रतिमाओं' को मॉन्टीसरी के उपकरणों से शुद्ध तथा धनी बनाया जा सकता है, बड़े बालकों के 'प्रत्ययों' तथा 'प्रतिमाओं' को विज्ञान, वस्तुपाठ आदि के के द्वारा परिष्कृत किया जा सकता है, और इस दृष्टि से इन विषयों का बड़ा महत्त्व है।

बालकों का प्रारंभिक ज्ञान स्थूल पदार्थों (Concrete Objects) का होता है, इसलिये उनके प्रारंभिक 'प्रत्यय', 'प्रतिमा' तथा 'कल्पना' स्थूल ही होते हैं। 'स्कूल' से अभिप्राय वे अपने स्कूल से समझेंगे, 'माता' से मतलब अपनी माता से। शिक्षा द्वारा हम क्या करते हैं? शिक्षा द्वारा हम बालक के 'प्रत्ययों' में से 'स्थूलता' का अंश छुटाते जाते हैं, और उसकी जगह 'सूक्ष्मता' का अंश लाते जाते हैं। पहले वह 'स्कूल' सुन-कर अपने ही स्कूल की कल्पना कर सकता था। ज्यों-ज्यों वह शिक्षित होता जाता है, त्यों-त्यों 'स्कूल' सुनकर उसके मन में स्कूल का सामान्यात्मक ज्ञान उत्पन्न होता जाता है। शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक में ऐसी कल्पना-शक्ति उत्पन्न कर दे जिस से वह 'स्थूल' अथवा 'विशेष' (Concrete) के स्थान में 'सूक्ष्म' अथवा 'सामान्य' (Abstract) प्रतिमा को अपने मन में उत्पन्न कर सके। 'सामान्य प्रतिमा' हमारे मन में शब्दों द्वारा उत्पन्न होती है। हम 'पुस्तक' कहते हैं, और पुस्तक-मात्र का सामान्यात्मक ज्ञान हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है; हम 'मनुष्य' कहते हैं, और मनुष्य-मात्र का ज्ञान हमारे मन में आ जाता है। शिक्षक के लिये यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि शुरू-शुरू में बालक के मन में 'सामान्य'-कल्पना नहीं उत्पन्न होती, उसके मन में 'विशेष'-कल्पना उत्पन्न होती है; बालक को उस 'विशेष' (Particular) से 'सामान्य' (General) की तरफ़ ले जाना शिक्षक का काम है।

'कार्य-साधक कल्पना' के महत्त्व को दर्शाने से हमारा यह अभिप्राय नहीं कि 'सरस कल्पना' का कोई महत्त्व नहीं है। 'सरस कल्पना' का जीवन में बड़ा स्थान है। जीवन में 'सरस-कल्पना' का विकास न हो, तो भवभूति तथा कालिदास-जैसे कवि भी उत्पन्न न हों। 'सरस कल्पना' के हमने जो दो भेद किए थे उनमें से 'कला-संबंधी कल्पना' तो जीवन के लिये बड़ी उपयोगी है। हाँ, 'मन-तरंग' वाली कल्पना का मनुष्य-जीवन में क्या स्थान है, इस विषय में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। मॉन्टीसरी का कथन है कि बालकों में मन-तरंगवाली, मनमोदक बनाने वाली कल्पना बहुत अधिक मात्रा में होती है, इसलिये क़िस्से-कहानी सुनाकर इसे और अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए। इसे नियंत्रित करने के लिये उसे कहानियाँ न पढ़ाकर व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा अधिक देनी चाहिए। ड्रेवर महोदय का कथन है कि मन की इस उड़ान से ही तो बड़े-बड़े कवि तथा चित्रकार बनते हैं, इसलिये इसे दबाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

४. बालक में 'कल्पना' का विकास

बालक में शक्ति बहुत होती है, परंतु वह संसार में नया ही आया होता है, इससे परिचित नहीं होता। वह अपनी शक्ति का क्या करे ? परिणाम यह होता है कि वह अपना एक काल्पनिक जगत् बना लेता है, और उसमें वैसे ही विचरता है जैसे हम इस वास्तविक जगत् में विचरते हैं। कल्पना के जादू से वह पत्थरों

में जान डाल देता है, और उनसे अपनी ही बोली में बोला करता है। बच्चा जब गुड़िया से खेल रहा होता है, तो वह उसे खिलौना नहीं समझता, असली चीज़ समझता है ; जब काठ के घोड़े पर चढ़ता है, तब वह अपने ख़याल से सचमुच के घोड़े पर चढ़ता है। हमारी दृष्टि से काल्पनिक जगत् बालक की दृष्टि से वास्तविक जगत् होता है। तभी तो वह एक ऐसी बात पर जो हमारी दृष्टि से मामूली होती है, तूल खड़ा कर देता है। छः वर्ष तक उसकी यही हालत रहती है। छः से आठ वर्ष की आयु में वह कल्पना के हवाई क़िले बनानेवाले क्षेत्र में से निकलने लगता है, और समझने लगता है कि राक्षसों तथा परियों की कहानियाँ सत्य घटनाओं पर आश्रित नहीं हैं। अब तक उसे जो कहा जाता था वह मान लेता था, अब वह अपने अनुभव के आधार पर कुछ बातों को मानता है, कुछ को नहीं। नौ-दस वर्ष की आयु तक वह पढ़ना सीख जाता है, अनेक वस्तुओं का उसे सामान्यात्मक ज्ञान होने लगता है। इस समय वीर योद्धाओं की कहानियाँ, बड़े-बड़े मार्के के काम, उसकी कल्पना को अधिक आकर्षित करने लगते हैं। उसकी इस कल्पना को इतिहास तथा भूगोल से बहुत सहायता मिल सकती है, इसलिये इन विषयों का इस आयु में पढ़ाया जाना अच्छा है। साहित्य भी कल्पना को अच्छा भोजन देता है। इसी का नतीजा है कि बालकों को पहले क़िस्से-कहानी पढ़ने का शौक़ होता है, फिर उपन्यास पढ़ने का शौक़ हो जाता है। उपन्यास अगर कला पर आश्रित हैं, तब तो बुरा नहीं, परंतु अगर बालक

ऐसा साहित्य पढ़ने लग गया है, जो 'कला-संबंधी कल्पना' पर आश्रित न होकर, 'मन-तरंग-संबंधी' कल्पना पर आश्रित है, तो बालक के लिये ठीक नहीं होता। उसे ठाली बैठकर शेखचिल्ली के हवाई क़िले बनाते रहने की आदत पड़ जाती है, और इस प्रकार वह अपना समय नष्ट किया करता है। शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे बालक को शेखचिल्ली बनानेवाली इस प्रकार की पुस्तकों को हाथ न लगाने दें। बालक के लिये वे ही पुस्तकें उपयोगी हैं, जो उसकी दोनो प्रकार की 'कार्य-साधक कल्पना' को उत्तेजित करें, और उनके साथ-साथ 'कला-संबंधी कल्पना' को भी विकसित करें।

५. 'कल्पना' पर परीक्षण

कल्पना पर अधिक परीक्षण नहीं किए गए। फिर भी दो-एक परीक्षणों का ज़िक्र कर देना अप्रासंगिक न होगा। किसी व्यक्ति को ६ शब्द लिखाकर उसे कहा जाय कि इन शब्दों से उसके मन में जो-जो भी कल्पना उत्पन्न होती है कहता जाय, तो पता चल जायगा कि उसकी कल्पना-शक्ति किस प्रकार की है। इसी प्रकार कुछ आधे, अपूर्ण वाक्य देकर उन्हें पूरा करने को कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, "मैं उस समय......" इतना वाक्य देकर इसे पूरा करने को कहा जाय, तो प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न तौर से इसे पूरा करेगा। प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार इस वाक्य को पूरा करेगा उसके आधार पर उसकी कल्पना-शक्ति का वर्गीकरण हो सकता है।

त्रयोदश अध्याय

सामान्य प्रत्यय, निर्णय, तर्क तथा भाषा

नवम अध्याय में हम 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' (Sensation) तथा 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' (Perception) का वर्णन कर आए हैं। 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' उस अनुभव को कहते हैं जिसमें हमें 'निर्गुण' ज्ञान होता है ; वही ज्ञान जब 'सगुण' हो जाता है, तब उसे 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' कह देते हैं। 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' (Perception) अनुभव की एक प्रक्रिया का नाम है ; इस प्रक्रिया का परिणाम 'प्रत्यय' (Percept) होता है। हम पुस्तक को देख रहे हैं, तो पुस्तक का 'प्रत्यय' है ; गीत को सुन रहे हैं, तो गीत का 'प्रत्यय' है ; फूल को सूँघ रहे हैं, तो फूल की गंध का 'प्रत्यय' है। पशु का अनुभव 'प्रत्यय-ज्ञान' तक ही सीमित रहता है। कोई वस्तु उसके सम्मुख है, तो उसे उस वस्तु का प्रत्ययानुभव (Perceptual Experience) हो रहा है। वह वस्तु सामने से हटा ली गई, तो उसका अनुभव भी जाता रहता है। कुछ-एक पशुओं को दो-चार बातों का 'सामान्य प्रत्यय' हो जाता है, परंतु इन सामान्य प्रत्ययों की संख्या बहुत थोड़ी रहती है। मनुष्य में पशुओं की तरह नहीं होता। मनुष्य के सम्मुख पुस्तक है, तो उसे पुस्तक का 'प्रत्ययानुभव' हो रहा है, पुस्तक

सामने से हटा ली गई, तो वह पुस्तक की 'प्रतिमा' को मन में ला सकता है। प्रत्येक विषय में उसका अनुभव इसी प्रकार का होता है, और उसमें ऐसे प्रत्ययों की संख्या बहुत अधिक होती है।

१. सामान्य-प्रत्यय-ज्ञान

किसी वस्तु के सामने होने पर जो ज्ञान होता है, उसे 'प्रत्यय' (Percept) कहते हैं; उसके सामने न होने पर उसकी जो शक्ल याद आ जाती है, उसे 'प्रतिमा' (Image) कहते हैं; उसके विषय में हममें जो सामान्य-ज्ञान रहता है, उसे 'सामान्य प्रत्यय' (Concept) कहते हैं। बालक एक बिल्ली को देख रहा है। उसकी एक पूँछ है, चार टाँगें हैं, काला रँग है। यह उसका 'प्रत्यय' है। दूसरी बार जब वह उसी बिल्ली को देखता है, तो पुराना प्रत्यय याद हो जाता है, और वह बिल्ली को देखकर समझ जाता है कि यह वही जानवर है जो उसने पहले देखा था। इस बार के प्रत्यय में पुराने प्रत्यय की 'प्रतिमा' भी काम आ रही है। बिल्ली को बिना देखे भी उसे बिल्ली की 'प्रतिमा' स्मरण आ सकती है। बिल्ली को अनेक बार देखने पर, और कई बिल्लियों को कई बार देखने पर, उसके मन में बिल्ली का एक 'सामान्य प्रत्यय' (Concept) उत्पन्न हो जाता है। वह बिल्ली बोलने से अपने घर की ही बिल्ली का नहीं, बिल्ली-मात्र का ग्रहण करने लगता है। धीरे-धीरे बालक बिल्ली, कुत्ता, चूहा, चिड़िया, मेज़, कुर्सी इत्यादि सैकड़ों 'सामान्य प्रत्ययों' को सीख जाता है।

'सामान्य प्रत्ययों' (Concepts) का ज्ञान बालक को किस प्रकार होता है ? शुरू-शुरू में तो बालक को 'प्रत्ययों' का ज्ञान होता है। वह मेज़ को देख रहा है, तो मेज़ के 'प्रत्यय' का उसे ज्ञान है ; कुर्सी को देख रहा है, तो कुर्सी के 'प्रत्यय' का ज्ञान है ; बि॒ी को देख रहा है, तो बिल्ली के 'प्रत्यय' का ज्ञान है। जिस बिल्ली को वह देख रहा है उसके एक पूँछ, चार टाँगें और काला रँग है। अगली बार वह फिर एक बिल्ली को देखता है। इस बार बिल्ली की एक पूँछ, चार टाँगें तो हैं ; परंतु रँग सफ़ेद है। वह देखता है कि इसे भी उसके माता-पिता बिल्ली ही कहते हैं। वह समझ लेता है कि बिल्ली का रँग काला तथा सफ़ेद दोनो हो सकता है। तीसरी बार वह भूरी बिल्ली को देखता है, और उसे भी सबको बिल्ली कहते ही सुनता है। अब वह जो भी बिल्ली सामने आती है, उसे पहचान जाता है, उसे बिल्ली के भिन्न-भिन्न प्रत्ययों को देखकर उसका 'सामान्य प्रत्यय' हो गया है। 'सामान्य प्रत्यय' तक पहुँचने में बालक को पाँच क्रमों में से गुज़रना पड़ा है :—

(क). 'निरीक्षण' (Observation)—बालक प्रत्यक्ष द्वारा भिन्न-भिन्न 'प्रत्ययों' को देखता है, या स्मृति द्वारा भिन्न-भिन्न 'प्रतिमाओं' को देखता है। पहले उसने काले रँग की बिल्ली देखी। यह पहली बार का 'प्रत्यय-निरीक्षण' था। दूसरी बार जब वह सफ़ेद रँग की बिल्ली को देखता है, तो काले रँग की बिल्ली की 'प्रतिमा' तथा सफ़ेद रँग की बिल्ली का 'प्रत्यय', इन दोनो को एक एक ही समय मन में लाता है।

(ख). 'तुलना' (Comparison)—इस निरीक्षण के बाद वह पहले प्रत्यय की 'प्रतिमा' की वर्तमान 'प्रत्यय' के साथ तुलना करता है। पहले उसने काले रँग की बिल्ली को देखा था, अब सफ़ेद रँग की बिल्ली को देख रहा है। इन दोनो अनुभवों में भिन्नता है, परंतु भिन्नता होते हुए समता भी बड़ी है।

(ग). 'पृथक्करण' (Abstraction)—अब बालक भिन्नता को पृथक् कर देता है, और समानता को पृथक् करके अलग निकाल लेता है। इसमें संदेह नहीं कि पहली बिल्ली में और इस सफ़ेद रँग की बिल्ली में रँग का भेद है, परंतु इन दोनो में समानता इतनी अधिक है कि बालक इस समानता को अलग निकाल लेता है, और इन समान गुणों को जोड़ लेता है। किसी वस्तु के विषय में इन्हीं समान गुणों के संग्रह को 'सामान्य प्रत्यय' (Concept) कहते हैं।

(घ). 'जाति-निर्देश' (Generalisation)—'सामान्य-प्रत्यय' के मन में उत्पन्न हो जाने पर वह अधिकाधिक स्पष्ट होने लगता है। बालक के मन में काली, सफ़ेद, भूरी अनेक बिल्लियों को देखकर 'बिल्ली' का 'सामान्य प्रत्यय' उत्पन्न हो गया। अब वह बिल्ली को ही देखकर बिल्ली कहेगा, और बिल्ली में अनेक प्रकार की भिन्नताओं के होते हुए भी उसे पहचान जायगा। इस अवस्था में हम कहते हैं कि उसे बिल्ली-'जाति' का ज्ञान हो गया।

(ङ). 'परिभाषा' (Definition)—'जाति-निर्देश' के बाद 'परिभाषा' का स्थान है। 'परिभाषा' द्वारा हम बालक के मन में

उस विचार को बड़ी आसानी से उत्पन्न कर देते हैं जिसे उसने बड़ी लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया में से गुज़रकर प्राप्त किया है। जब हम 'कुत्ता' कहते हैं, तब वह समझ जाता है कि इसका मतलब बिल्ली-चूहे आदि से नहीं है, चार पाओंवाले, काटने और भौंकने वाले जानवर से है।

बालक के मन में 'परिभाषा' का ज्ञान धीरे-धीरे उत्पन्न होता है, और धीरे-धीरे ही उसमें स्पष्टता आती है। शुरू-शुरू में जब बालक को कुत्ते या बिल्ली का ज्ञान होता है, तो वह इनकी 'परिभाषा' तो ठीक-ठीक नहीं कर सकता, परंतु उसे कुत्ते या बिल्ली का साधारण ज्ञान अवश्य हो जाता है। उसे कुत्ते का जो 'सामान्य प्रत्यय' (Concept) होता है, उसमें अपने घर में देखे हुए कुत्ते की 'प्रतिमा' उसके मन में आ जाती है। उसके अन्य 'सामान्य प्रत्ययों' का भी यही हाल रहता है। धीरे-धीरे उसके 'सामान्य प्रत्यय' परिष्कृत होते जाते हैं, और कुछ देर बाद जब 'कुत्ता'-शब्द कहा जाता है, तो उसे अपने घर के कुत्ते का ख्याल नहीं आता, उसकी प्रतिमा नहीं उत्पन्न होती, अपितु उसके मन में कुत्ता-सामान्य का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। असली 'सामान्य प्रत्यय' (Concept) इसी को कहा जाता है।

इस दृष्टि से 'सामान्य प्रत्यय' एक सापेक्षिक शब्द है। पहले बालक को अनेक गौएँ देखकर गो-सामान्य का प्रत्यय होता है। इसी प्रकार घोड़ा, बकरी, गधा आदि का अलग-अलग 'सामान्य-प्रत्यय' होता है। परंतु चौपाओं की दृष्टि से गौ, घोड़े, बकरी,

गधे आदि का प्रत्यय भी 'विशेष प्रत्यय' है, क्योंकि 'चौपाया' शब्द गौ, घोड़े आदि से भी अधिक 'सामान्य' है। बालक का ज्ञान 'प्रत्ययों' से 'विशेष-प्रत्ययों' (Generic Ideas) और 'विशेष प्रत्ययों' से 'सामान्य प्रत्ययों' (Abstract Ideas या Concepts) की तरफ़ बढ़ता है। पहले वह अनेक गौओं को देखता है, ये भिन्न-भिन्न प्रत्यय हैं। इसके बाद 'गौ' कहने से उसे गो-सामान्य का ज्ञान तो होता है, परंतु उसके घर की गौ की उसके मन के सम्मुख 'प्रतिमा' आ जाती है, यह 'विशेष प्रत्यय' (Generic Idea) कहाता है। 'विशेष प्रत्यय' के बाद बालक के मन का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, त्यों-त्यों 'सामान्य-प्रत्यय' (Abstract Idea) का विचार उसमें उत्पन्न होता जाता है। 'सामान्य प्रत्यय' के उत्पन्न हो जाने पर जब 'गौ' कहा जायगा, तो बालक के मन में उसके घर की गौ की प्रतिमा नहीं उत्पन्न होगी, परंतु वह गो-सामान्य को समझ जायगा। इस प्रकार बालक के ज्ञान में 'विशेष' (Particular) से 'सामान्य' (General) की तरफ़ विकास होता है, और वह धीरे-धीरे 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) का संग्रह करता है। 'सामान्य-प्रत्ययों' के निर्माण की प्रक्रिया 'विशेष' से 'सामान्य' की तरफ़ होती है, इसलिये शिक्षक को सदा 'विशेष से सामान्य' (From Particular to General) की तरफ़ जाने का प्रयत्न करना चाहिए, इसी से बालक किसी बात को ठीक तौर से समझ सकता है।

क्या 'सामान्य प्रत्यय' काल्पनिक वस्तु हैं, या इनकी यथार्थ में सत्ता है ? जब हम 'पंखा'-शब्द का प्रयोग करते हैं, तब अगर हमारे मन में अपने पंखे का विचार है, तब तो ठीक, क्योंकि हमारा पंखा हमारे सामने मौजूद है, परंतु जब हमारे मन में 'पंखा-सामान्य' का विचार होता है तब कोई पूछ सकता है कि 'पंखा-सामान्य' क्या वस्तु है ? क्या हमारे पंखे की तरह 'पंखा-सामान्य' की भी सत्ता है ? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न दिया गया है। प्लेटो का कथन था कि पंखा-सामान्य काल्पनिक नहीं, सद्वस्तु है, और उसी सद्रूप पंखे की नक़ल में, जिसमें सब पंखों के गुण विद्यमान हैं, भिन्न-भिन्न पंखों का निर्माण हुआ है। प्लेटो के विचार के अनुसार 'गोत्व', 'अश्वत्व', 'घटत्व', 'पटत्व' काल्पनिक नहीं, सत्तावान् विचार हैं, और इन्हीं को आदर्श में रखकर भिन्न-भिन्न गौओं, घोड़ों आदि की रचना हुई है। प्लेटो के इस विचार को 'जाति-सत्ता-वाद' (Theory of Ideas) कहा जाता है। इस विचार को 'यथार्थ सत्तावाद' (Realism) भी कहा जाता है, क्योंकि प्लेटो के अनुयायी गोत्व, अश्वत्व आदि 'सामान्य-प्रत्ययों' की यथार्थ सत्ता मानते थे। इस विचार के विरोध में 'नाम-रूपात्मवाद' (Nominalism) की उत्पत्ति हुई। इस विचार को माननेवालों का कथन है कि यथार्थ-सत्तावाली वस्तु तो 'विशेष' है, 'सामान्य' नहीं ; 'गो-विशेष' है, 'गो-सामान्य' नहीं। और, 'सामान्य-प्रत्यय' को हमने अपनी सुविधा के लिये बना रक्खा है, यह मनुष्य की पैदा की हुई वस्तु है, इसकी

अपनी कोई सत्ता नहीं है। इन दोनों विचारों के कुछ-कुछ अंश को लेकर 'सामान्य-प्रत्ययवाद' (Conceptualism) की उत्पत्ति हुई। 'सामान्य-प्रत्ययवाद' का यह मतलब है कि 'सामान्य-प्रत्ययों' की सत्ता तो है, परंतु सेटो के अनुसार स्वर्गलोक में नहीं, अपितु इनकी सत्ता हमारे ही मस्तिष्क में है।

'सामान्य प्रत्यय' कहीं से क्यों न आते हों, चाहे ये यथार्थ हों, चाहे नाम-रूपात्मक हों, चाहे हमारे मस्तिष्क में इनकी सत्ता हो, शिक्षा की दृष्टि से ये अत्यंत आवश्यक हैं। शिक्षा का काम ही बालक के मन में 'सामान्य प्रत्ययों' (Concepts) का बढ़ाना है। जिसके मन में जितने अधिक 'सामान्य प्रत्यय' होंगे, वह उतना ही अधिक शिक्षित कहा जायगा। जैसा अभी कहा गया था, 'सामान्य प्रत्ययों' को प्रकट करने के लिये 'परिभाषाओं' (Definitions) का प्रयोग होता है। 'नदी' एक परिभाषा है। अगर यह परिभाषा, यह 'सामान्य प्रत्यय' न हो, तो बालक को नदी का ज्ञान देने के लिये बार-बार नदी के सम्मुख ले जाना पड़े। 'परिभाषा' हमारी विचार-प्रक्रिया को छोटा कर देती है। नदी का बोध उत्पन्न करने के लिये पहले बालक को नदी तक ले जाना पड़ता है, पीछे 'नदी'-शब्द कह देने-मात्र से वह सारी प्रक्रिया बालक के मन में हो जाती है। अगर जीवन में 'सामान्य-प्रत्यय' या 'परिभाषा' न होती, तो हमारा व्यवहार ही न चल सकता। एक मनुष्य को सीलन अनुकूल नहीं पड़ती, ख़ुश्क हवा अनुकूल पड़ती है। उसे हम पूछते हैं, क्या तुम

बंबई जाओगे, या सोलन ? अगर 'परिभाषा' या 'सामान्य-प्रत्यय' न हो, तो हमें पहले तो उसे बंबई ले जाना पड़े, फिर सोलन ले जाना पड़े, और तब जाकर हम उससे पूछ सकें कि इन दोनो स्थानों में से तुम कहाँ रहोगे। तब भी हम उससे पूछ सकें या न पूछ सकें, इसमें संदेह है, क्योंकि जब वह सोलन में होगा, तब बंबई में न होगा, और जब बंबई में होगा, तब सोलन में न होगा। 'सामान्य प्रत्यय' हमारी विचार-प्रक्रिया के दीर्घ-चक्र को बहुत छोटा कर देता है, और हम घर बैठे-बैठे 'सामान्य प्रत्ययों' से ऐसे खेलते हैं, जैसे खिलौने से खेला जाता है। 'शब्द' या 'परिभाषा' 'सामान्य प्रत्यय' को प्रकट करनेवाला ही एक चिह्न है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। पशुओं में 'सामान्य प्रत्यय' नहीं होते, मनुष्य में होते हैं, और अगर कोई ऐसा मनुष्य हो जिसमें 'सामान्य प्रत्यय' न हों, तो उसे पशु-समान ही समझना चाहिए। जंगली जातियों में 'सामान्य प्रत्यय' बहुत थोड़े होते हैं।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि असली चीज़ 'सामान्य प्रत्यय' है, 'परिभाषा' नहीं। 'परिभाषा' तो 'सामान्य प्रत्यय' को जाग्रत् करने का एक साधन है। कई शिक्षक 'परिभाषा' पर इतना बल देते हैं कि उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं रहता कि बालक के मन में उस 'परिभाषा' को सुनकर कोई ज्ञान भी उत्पन्न होता है या नहीं। बालक परिभाषाओं को रट लेते हैं, और शिक्षक समझ लेता है कि

उन्हें ज्ञान हो गया। हमें अभी कानपुर में एक बालिका से मिलने का अवसर हुआ। हमने उससे पूछा—'नदी' किसे कहते हैं? उसने झट-से कहा—'नदी मीठे पानी की वह धारा है जो पहाड़ से निकलकर समुद्र में गिरती है।' फिर हमने पूछा—'क्या तुमने कभी नदी देखी है?' उसने कहा—'नहीं'। वह बालिका उसी समय गंगा से स्नान करके आ रही थी, उसे नदी की परिभाषा भी याद थी, परंतु वह समझती थी कि उसने नदी कभी नहीं देखी। बालकों की अनेक परिभाषाएँ इसी तरह की होती हैं। शिक्षक को चाहिए कि पहले बिना 'परिभाषाओं' का प्रयोग किए बालक के मन में 'सामान्य प्रत्ययों' का ज्ञान उत्पन्न करे, जब 'सामान्य प्रत्ययों' का ज्ञान उत्पन्न हो जाय, तब 'परिभाषाओं' का प्रयोग करे। 'सामान्य प्रत्ययों' को उत्पन्न करने का साधन 'प्रत्ययों' को उत्पन्न करना है। बालक को जितना पदार्थ-ज्ञान होगा, उतने ही उसके 'सामान्य प्रत्यय' बढ़ेंगे। 'सामान्य प्रत्यय' पदार्थ को अधिकाधिक समझने के लिये ही तो है, परंतु जब तक पदार्थों का शुद्ध ज्ञान नहीं होगा तब तक 'सामान्य प्रत्ययों' का ज्ञान कहाँ से हो जायगा। इसीलिये शिक्षक को 'स्थूल' से 'सूक्ष्म' की तरफ़ (From Concrete to Abstract) जाना चाहिए, सूक्ष्म से स्थूल की तरफ़ नहीं। बालक को भिन्न-भिन्न स्थूल पदार्थों का अनेक बार अनुभव कराना चाहिए। उसका 'प्रत्ययानुभव' (Perceptual Experience)

जितना विशद तथा स्पष्ट होगा, उसके 'सामान्य प्रत्यय' (Concepts) भी उतने ही विशद तथा स्पष्ट होंगे। बालकों के 'सामान्य प्रत्यय' अस्पष्ट तथा अशुद्ध क्यों होते हैं ? क्योंकि उन्हें पदार्थों का ज्ञान बहुत-थोड़ा दिया गया होता है। हो सकता है, उन्होंने पदार्थों के निरीक्षण में समता को देखा हो, विषमता को न देखा हो। इसलिये 'सामान्य प्रत्ययों' के निर्माण के लिये यह बहुत अधिक आवश्यक है कि बालक को पदार्थों का ज्ञान खूब अच्छी तरह से करा दिया जाय। 'प्रत्यय'-ज्ञान में जो कमी रह जायगी, वह उसके 'सामान्य प्रत्यय'-ज्ञान में भी आ जायगी।

शिक्षक के लिये यह समझ लेना बहुत आवश्यक है कि बालक के मन में पहले कौन-से 'सामान्य प्रत्ययों' का ज्ञान होता है, और फिर कौन-से, ताकि जिस आयु में जिस तरह के 'सामान्य प्रत्ययों' का ज्ञान बालक ग्रहण कर सकता है, उस आयु में उन्हीं 'सामान्य प्रत्ययों' को उत्पन्न करने का वह प्रयत्न करे, दूसरों को नहीं। यह क्रम इस प्रकार है:—

(क). बचपन में खाने-पीने के पदार्थों की तरफ़ बालक का शौक़ होता है, इसलिये अनाज, सब्ज़ी, फल आदि का ज्ञान सबसे प्रथम कराना चाहिए।

(ख). जो चीजें आम पाई जाती हैं, उनका ज्ञान इनके बाद आना चाहिए। जैसे, वृक्ष, कुत्ता, बिल्ली, सूर्य, चाँद, तारा आदि।

(ग). इसके बाद उन चीजों का ज्ञान कराना चाहिए जो कम पाई जाती हैं। जैसे, शेर, हाथी, राजा आदि।

(घ). अंत में, भाववाचक पदार्थों का ज्ञान कराना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, न्याय, परीक्षा, हरियावल, सफेदी आदि। इस आयु में परिभाषा ही सब-कुछ हो जाती है, और विज्ञान आदि उच्च कोटि के ग्रन्थों का मनुष्य अच्छी तरह अध्ययन कर सकता है।

२. निर्णय (Judgment

'सामान्य प्रत्यय' के उत्पन्न होने के समय हमारे मन में एक ख़ास प्रक्रिया होती है, जिसका वर्णन हमने नहीं किया। जब हम कहते हैं, 'कृष्णपट बड़ी उपयोगी चीज़ है', तब हमारे मन में क्या प्रक्रिया होती है ? हमने सब चीज़ों के मन में दो विभाग कर लिए : उपयोगी तथा अनुपयोगी। हमने कृष्णपट की उपयोगी तथा अनुपयोगी दोनो चीज़ों से 'तुलना' की, और तुलना करने के बाद यह 'निश्चय' किया कि कृष्णपट में अधिक गुण ऐसे पाए जाते हैं, जो उपयोगी चीज़ों में होते हैं, ऐसे नहीं जो अनुपयोगी में होते हैं। इसलिये प्रत्येक 'सामान्य प्रत्यय' में निम्न दो प्रक्रियाएँ अवश्य होती हैं :—

क. तुलना (Comparison)

ख. निश्चय (Decision)

'तुलना' तथा 'निश्चय' 'सामान्य प्रत्यय' (Concept) में ही नहीं, 'प्रत्यय' (Percept) में भी रहते हैं, और हम हरएक 'सामान्य प्रत्यय' तथा 'प्रत्यय'-ज्ञान के साथ-साथ 'निर्णय' भी कर रहे होते हैं। ऐसा नहीं होता कि 'सामान्य प्रत्यय-ज्ञान' पहले हो,

और 'निर्णय' बाद में हो। जब हम कहते हैं, यह वृक्ष ऊँचा है, तब हम एक 'निर्णयात्मक' वाक्य कह रहे होते हैं। परंतु इस 'निर्णयात्मक' वाक्य के कहने से पहले हमें 'वृक्ष' तथा 'ऊँचाई' का 'सामान्य-प्रत्यय' होना चाहिए, तभी हम उक्त निर्णयात्मक वाक्य कह सकते हैं। परंतु जब हमें 'वृक्ष' का 'सामान्य प्रत्यय' हुआ था, तब अनेक वृक्षों को देखकर हमने उनकी तुलना की थी, और इन गुणोंवाली चीज़ को 'वृक्ष' कहते हैं, यह निश्चय किया था। 'तुलना' तथा 'निश्चय' को ही 'निर्णय' कहते हैं। 'निर्णय' तथा 'सामान्य प्रत्यय' साथ-साथ चलते हैं, प्रत्येक 'सामान्य प्रत्यय' तथा 'प्रत्यय' में 'निर्णय' अंतर्निहित रहता है।

निर्णय दो प्रकार का होता है : 'स्वाभाविक' (Intuitive) तथा 'सप्रयास' (Deliberate)। 'स्वाभाविक' निर्णय वे हैं, जिनमें हम किसी बात को ख़ुद-ब-ख़ुद जान जाते हैं। आग जलाती है, यह 'स्वाभाविक निर्णय' है। 'सप्रयास' निर्णय उसे कहते हैं जिसमें हमें अपना दिमाग़ लगाना पड़ता है। कुत्ता पशु है, ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है, ये निर्णय हैं, परंतु 'सप्रयास निर्णय' हैं। 'स्वाभाविक निर्णय' बालक पहले-पहल स्वयं करने लगता है ; 'सप्रयास निर्णयों' में अधिक अनुभव की ज़रूरत पड़ती है।

बालक तथा बड़े आदमी के भी अनेक 'निर्णय' (Judgments) अशुद्ध होते हैं। इन अशुद्ध निर्णयों के चार कारण कहे जाते हैं :—

(क). प्रत्ययों का स्पष्ट न होना—'निर्णय' में 'तुलना' मुख्य बात है। 'तुलना' किसको? प्रत्ययों, प्रतिमाओं तथा सामान्य-प्रत्ययों की। अगर हमारा 'प्रत्यय-ज्ञान' अस्पष्ट है, तो 'निर्णय' कैसे स्पष्ट हो सकता है? इसलिये स्पष्ट 'निर्णय' के लिये स्पष्ट 'प्रत्ययों' का होना सबसे बड़ी बात है।

(ख). निर्णय में पर्याप्त समय न मिलना—हमारे मन में दो विचार हैं, और हम एकदम किसी निर्णय पर पहुँच जाते हैं। ऐसे निर्णय अधकचरे रहते हैं। बालक किसी बात पर देर तक नहीं सोचते, इसलिये उनके निर्णयों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। शिक्षकों को चाहिए कि बालकों में देर तक सोचने की आदत डालें। इसका यह मतलब भी नहीं कि वे किसी बात को सोचते ही रहें। सोचने का मतलब है, किसी निर्णय तक पहुँचने के लिये सोचना।

(ग). दूसरे के दिमाग़ से सोचना—कई लोग अपने दिमाग़ से नहीं सोचते, उन्हें दूसरा जो कुछ कह दे, वही उनके लिये पत्थर की लकीर हो जाता है। कई लोग किताबी बातों के ग़ुलाम हो जाते हैं। शिक्षक को बालक के अंदर स्वतंत्र निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए।

(घ). पक्षपात—हमारा जिस विषय में पक्षपात हो जाता है उसमें हम स्वतंत्र विचार करना छोड़ देते हैं। राजनैतिक तथा धार्मिक मामलों में पक्षपात के कारण ही हमारे निर्णय एकांगी होते हैं। बालकों को पक्षपात-रहित निर्णय करना सिखाना चाहिए।

निर्णय-शक्ति को परिष्कृत करने के लिये निम्न बातों पर ध्यान देना उपयोगी रहता है :—

(क). अक्सर शिक्षक लोग किसी बात को रटवा देते हैं, यह उनके लिये आसान रहता है, परंतु ऐसा न करके बालकों की निर्णय-शक्ति के द्वारा किसी बात को समझाना चाहिए।

(ख). अक्सर शिक्षक लोग किसी बात के विषय में 'निर्णय' पहले ही बतला देते हैं, परंतु ऐसा न करके बालक को 'प्रत्ययों' द्वारा 'सामान्य प्रत्यय' का ज्ञान कराना चाहिए, और 'सामान्य प्रत्ययों' की 'तुलना' तथा 'निश्चय' से 'निर्णय'-ज्ञान कराना चाहिए। शिक्षा का अभिप्राय यह है कि बालक को सोचने की, प्रत्ययों की तुलना करके निर्णय करने की आदत डाली जाय। जो शिक्षक बने-बनाए निर्णय बालकों को रटवा देता है, वह बालकों से सोचने की प्रक्रिया न कराकर उसे स्वयं करने लगता है। जब बालक अपना भोजन स्वयं पचाता है, तो वह अपनी विचार-प्रक्रिया क्यों न स्वयं करे ?

(ग). बालक पुस्तकों की बातों को पढ़कर उनके निर्णयों को मान लेते हैं, उनकी परीक्षा नहीं करते। ऐसा नहीं होना चाहिए। पुस्तकों के निर्णयों को अनुभव द्वारा परखना चाहिए।

३. विचार तथा तर्क (Thinking and Reasoning)

हमने देखा कि 'प्रत्ययों' (Percepts), 'प्रतिमाओं' (Images) तथा 'सामान्य प्रत्ययों' (Concepts) का निर्माण किस प्रकार होता है। अगली देखने की बात यह है कि

इन 'सामान्य प्रत्ययों' का मन में संग्रह किस क्रम से होता है। इस प्रश्न पर विचार करनेवालों नें दो क्रम बतलाए हैं:—

क. मनोवैज्ञानिक (Psychological) तथा

ख. तार्किक (Logical)

मनोवैज्ञानिक क्रम उसे कहते हैं जिसमें 'सामान्य प्रत्यय'-ज्ञान बालक के मानसिक विकास के अनुसार होता है, यह ज़रूरी नहीं कि वह क्रम तर्क पर आश्रित भी हो। बालक को पहले-पहल अपने घर, अपने गाँव, अपने शहर का ज्ञान होता है, संसार का पीछे होता है। यह 'मनोवैज्ञानिक' क्रम है। 'तार्किक क्रम' में तो संसार पहले आता है, उसके बाद देश, फिर प्रांत, फिर शहर और फिर गाँव। पढ़ने में 'मनोवैज्ञानिक क्रम' को ही सामने रखना चाहिए, 'तार्किक क्रम' को नहीं। बालक को भूगोल पढ़ाना है, तो संसार से चलने के बजाय बालक के गाँव से चलना चाहिए, क्योंकि बालक को पहले-पहल अपने गाँव का ही ज्ञान होता है। 'संसार' के वर्णन से जो लोग भूगोल को पढ़ाना शुरू करते हैं, वे 'तार्किक क्रम' का अनुसरण करते हैं, क्योंकि तर्क की दृष्टि से 'संसार' का 'गाँव' से पहले स्थान है, परंतु वे बालक को कुछ पढ़ा नहीं सकते। हमें यह देखना चाहिए कि बालक का मानसिक विकास किस क्रम से होता है। इस विकास को सम्मुख रखकर पढ़ाना 'मनोवैज्ञानिक क्रम' कहाता है। शिक्षक का कर्तव्य है कि इस क्रम से चलकर बालक के विचारों में तार्किक शृंखला उत्पन्न करता जाय।

'सामान्य प्रत्ययों' का संग्रह 'मनोवैज्ञानिक' तथा 'तार्किक' इन दो क्रमों से होता है। 'सामान्य प्रत्यय' मन में जाकर असंबद्ध रूप से नहीं पड़े रहते, उनका आपस में संबंध जुड़ता जाता है। परंतु प्रश्न यह है कि इन प्रत्ययों का आपस में संबंध किस प्रकार का होता है? स्पीयरमैन ने इस संबंध पर विचार करके दो मुख्य संबंधों का निर्धारण किया है:—

क. सजाति संबंध (Principle of Relation)

ख. इतरेतर-संबंध (Principle of Correlation)

'सजाति-संबंध' उसे कहते हैं जब दो या दो से अधिक 'सामान्य प्रत्यय' आपस में निकटता-दूरी, आगे-पीछे, कार्य-कारण, न्यून-अधिक आदि संबंधों से जुड़ जायँ। 'इतरेतर-संबंध' उसे कहते हैं जब मन में एक संबंध हो, तो दूसरा ख़ुद-ब-ख़ुद उत्पन्न हो जाय। पति कहने से पत्नी का विचार आ जाता है, पिता कहने से पुत्र या माता का विचार स्वयं आ जाता है। ये सब 'इतरेतर-संबंध' हैं।

जब हमारे मन में 'सामान्य प्रत्ययों' के संबंध उत्पन्न होने लगते हैं, तब हम एक विचार से दूसरे विचार, और दूसरे से तीसरे विचार को अपने दिमाग़ से सोचने लगते हैं। यह प्रक्रिया 'अनुमान' कहलाती है। तार्किक लोगों ने 'अनुमान' के दो विभाग किए हैं:—

(क). व्याप्तिपूर्वक अनुमान (निगमन) (Deductive)

(ख). दृष्टांतपूर्वक अनुमान (आगमन) (Inductive)

'व्याप्तिपूर्वक अनुमान' मनुष्य अपने लिये करता है। वह पर्वत में धुआँ देखकर कहता है, जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है; इस पहाड़ पर धुआँ दिखाई दे रहा है, इसलिये वहाँ आग अवश्य है। 'दृष्टांतपूर्वक अनुमान' में पहले दूसरे को यह समझाना होता है कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है, तब जाकर वह पर्वत पर धुआँ देखकर वहाँ आग होने का अनुमान कर सकता है। परंतु उसे यह विश्वास कैसे कराया जाय कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है? इसका तरीक़ा यह है कि उसे दस, बीस, पचास, सौ जगह आग और धुएँ का संबंध दिखा दिया जाय। बस, फिर वह पहाड़ पर धुआँ देखकर अपने-आप समझ जाता है कि वहाँ आग है। इन दोनों अनुमानों को निम्न प्रकार से प्रकट किया जा सकता है:—

व्याप्तिपूर्वक अनुमान	दृष्टांतपूर्वक अनुमान
क. जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है।	क. रसोई में धुआँ है, आग भी है।
ख. इस पहाड़ पर धुआँ है।	ख. एंजिन में धुआँ है, आग भी है।
ग. इसलिये पहाड़ पर आग है।	ग. सिगरेट में धुआँ है, आग भी है।
	घ. जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है।
	ङ. पहाड़ पर धुआँ है, इसलिये आग भी है।

'व्याप्तिपूर्वक अनुमान' तथा 'दृष्टांतपूर्वक अनुमान' की आपस में निम्न तुलना की जा सकती है:—

व्याप्तिपूर्वक अनुमान	दृष्टांतपूर्वक अनुमान
क. इसमें हम दूसरे के बताए हुए परिणाम से लाभ उठाते हैं।	क. इसमें कई दृष्टांतों को देखकर हम स्वयं परिणाम निकालते हैं।
ख. इसमें अपने ज्ञान को हम एक नई जगह पर घटाते हैं।	ख. इसमें हमें नया ज्ञान मिलता है।
ग. इसमें निर्णय पहले ही होता है।	ग. इसमें निर्णय बाद को होता है।
घ. इसमें हम दूसरे पर आश्रित हैं।	घ. इसमें हम स्वयं अनुसंधान करते हैं।
ङ. यह बड़ों का तरीक़ा है।	ङ. यह छोटे बालकों का तरीक़ा है।

शिक्षा 'व्याप्ति-निर्देश-पूर्वक' तथा 'दृष्टांत-निर्देश-पूर्वक' दोनो तरह से हो सकती है, परंतु दूसरे को समझाने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि पहले ख़ूब दृष्टांत दिये जायँ, फिर उनसे किसी नियम का, व्याप्ति का प्रतिपादन कर दिया जाय, और फिर उस व्याप्ति को कई जगह घटाकर दिखा दिया जाय। इस प्रकार उक्त दोनो प्रकारों के सम्मिश्रण से जो तरीक़ा निकलता है, बालकों को समझाने के लिये वह बहुत अच्छा समझा गया है। इस तरीक़े में पाँच क्रम होते हैं। इन क्रमों का प्रतिपादन हर्बार्ट ने किया था, अतः इन्हें 'हर्बार्ट के पाँच क्रम' (Five Steps of Herbart) कहा जाता है। कल्पना कीजिए कि हमने बालकों को भूत, वर्तमान, भविष्यत् कालों के भेद समझाना है। हमें निम्न पाँच क्रमों द्वारा यह बात बालकों को समझानी होगी :—

(क). तैयारी (Preparation)—पहले हमें बालकों के 'पूर्ववर्ती ज्ञान' को उद्बुद्ध करना होगा, क्योंकि उसी के प्रकाश में वे नई बात सीख सकते हैं। इसके लिये अनेक ऐसे दृष्टांत देने होंगे जिनसे बालक पहले से परिचित हैं। हम कृष्णपट पर निम्न दृष्टांत लिख देते हैं :—

१. वह हरद्वार गया।

२. कमला गाना गाती है।

३. शशि कल घर जायगी।

४. बच्चा रोता है।

५. ललित ने दूध पिया।

६. मेरा भाई बनारस जायगा।

ये दृष्टांत लिखकर बालकों को कहा जायगा कि उक्त वाक्यों में जो-जो क्रियाएँ हैं, उन्हें अपनी कापियों में अलग लिख लें।

(ख). निरीक्षण (Presentation)—इसके बाद इन क्रियाओं में आपस में जो नवीनता होगी, उसे देखने को उन्हें कहा जायगा। 'जायगी', 'गया' आदि से वे पहले ही परिचित हैं। उन्हें 'जायगी' से मिलती-जुलती क्रियाओं का अलग संग्रह करने को कहा जायगा। इसी प्रकार 'गया' और 'जाता है' से मिलती हुई क्रियाओं का वे अलग संग्रह करेंगे।

(ग). तुलना (Comparison)—अब वे इनकी आपस में तुलना करेंगे। 'जायगी', 'पीयेगा' एक तरह की क्रियाएँ हैं ;

'गया', 'पीया' आदि दूसरी तरह की क्रियाएँ हैं ; 'जाता है', 'पीता है' आदि तीसरी तरह की क्रियाएँ हैं।

(घ). नियम-निर्धारण (Generalisation)—उक्त दृष्टांतों को देखकर हम यह नियम निकालते हैं कि कई क्रियाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें हम पहले कर चुके होते हैं, इन्हें 'भूत-कालिक क्रिया' कहते हैं ; कई ऐसी होती हैं जिन्हें हम कर रहे होते हैं, इन्हें 'वर्तमान-कालिक क्रिया' कहते हैं ; कई ऐसी होती हैं जिन्हें हमें अभी करना होता है, ये 'भविष्यत्कालिक क्रियाएँ' होती हैं। प्रत्येक क्रिया के इसी प्रकार तीन काल होते हैं। इस अवस्था में 'परि-भाषा' का प्रयोग होता है।

(ङ). प्रयोग (Application)—इसके बाद हम कई ऐसी क्रियाएँ लेते हैं जो इन दृष्टांतों में नहीं आईं, और भिन्न-भिन्न दृष्टांतों से जिस नियम का हमने प्रतिपादन किया है, उसका हम नवीन दृष्टांतों पर प्रयोग करके दिखलाते हैं।

इस प्रकार इन पाँच क्रमों में तैयारी, निरीक्षण, तुलना तथा नियम-निर्धारण तक हमने 'दृष्टांत-पूर्वक अनुमान' (Induction) के द्वारा काम लिया है, प्रयोग में 'व्याप्ति-पूर्वक अनुमान' (Deduction) से, और बालक भूत, वर्तमान तथा भविष्य कालों के भेद को अच्छी तरह समझ गया है। अगर हम बालक को पहले नियम ही बतला देते, तो वह इस भेद को उतना नहीं समझता जितना उसने अब समझा है। छोटे बालकों के लिये यही तरीक़ा सर्वोत्तम समझा जाता है। बड़े विद्यार्थियों

के लिये पहले नियम बताकर उसका भिन्न-भिन्न दृष्टांतों में प्रयोग अधिक अच्छा रहता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उन सब बातों को सामने रखते हुए शिक्षा-विज्ञानियों ने कुछ ऐसे नियमों का प्रतिपादन किया है जिनके अनुसार चलने से शिक्षक बालक को अच्छी तरह से अपनी बात समझा सकता है। संक्षेप से वे नियम निम्न हैं:—

(क). 'दृष्टांतों' से 'व्याप्ति' की तरफ़ जाना चाहिए।

(ख). 'स्थूल' से 'सूक्ष्म' की तरफ़ जाना चाहिए।

(ग). 'मानसिक क्रम' (Psychological) को सामने रखते हुए 'तार्किक' (Logical) क्रम की तरफ़ जाना चाहिए।

(घ). 'विशेष' से 'सामान्य' की तरफ़ जाना चाहिए।

(ङ). 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ़ जाना चाहिए।

(च). 'अवयव' से 'अवयवी' की तरफ़ जाना चाहिए।

(छ). 'साधारण' से 'विषम' की तरफ़ जाना चाहिए।

४. भाषा

हमारे मन में 'सामान्य प्रत्यय' (Concepts) रहते हैं, और उन्हीं के द्वारा हमारी संपूर्ण विचार-परंपरा चलती है। एक-एक 'सामान्य प्रत्यय' का हम नाम रख लेते हैं, और इन्हीं नामों को 'शब्द' कहते हैं। 'शब्द' हमारे मन में मौजूद 'सामान्य प्रत्ययों' के ही चिह्न हैं। इन्हीं शब्दों के सार्थक-संबंध का नाम 'भाषा' है। बालक के विकास में धीरे-धीरे वह अवस्था आ जाती है, जब

'सामान्य प्रत्यय' को उत्पन्न करने के लिये पदार्थ को सामने लाने की जरूरत नहीं होती, 'शब्द' बोल देना ही काफी होता है। इसलिये 'विचार' के लिये 'भाषा' एक आवश्यक माध्यम है। 'भाषा' द्वारा हम क्या करते हैं? भाषा द्वारा हम 'सामान्य प्रत्ययों' (Concepts) का 'विश्लेषण' तथा 'संश्लेषण' (Analysis and Synthesis) करते हैं। हमने अपने किसी मित्र से कहा कि 'थाली में आम रक्खा है'। यह वाक्य बोलते हुए हमने क्या किया? 'थाली' का 'सामान्य प्रत्यय', 'आम' का 'सामान्य प्रत्यय', थाली और आम का आधाराधेय भाव, इन सब प्रत्ययों को शब्द-रूप संकेतों द्वारा हमने अपने मित्र तक पहुँचा दिया, और उसे थाली तथा आम के विना देखे हुए भी थाली में आम रक्खे होने का ज्ञान हो गया। हमने विचार की उक्त प्रक्रिया में 'सामान्य प्रत्ययों' का पहले 'विश्लेषण' किया, फिर एक नए ढंग से 'संश्लेषण' कर दिया। जब बालक 'सामान्य प्रत्ययों' के संकेतों, अर्थात् शब्दों द्वारा, उनका 'विश्लेषण' तथा 'संश्लेषण' करने लगता है, तब हम कहते हैं कि वह भाषा का व्यवहार करने लगा है। 'भाषा' के द्वारा 'सामान्य प्रत्ययों' का 'विश्लेषण' तथा 'संश्लेषण' आसानी से हो जाता है।

भाषा का विकास बालक में धीरे-धीरे होता है। पहले वह अ-ई-ऊ आदि 'स्वर' बोलने लगता है। वह रोता है, चिल्लाता है, इससे उसके भाषा में काम आनेवाले अंग पुष्ट होते हैं। बाद को स्वरों के साथ 'व्यंजन' भी जुड़ने लगते हैं। वह का, ता,

बा बोलने लगता है। आवाज़ निकालने से बालक को आनंद मिलता है, इसलिये वह यों ही कुछ-न-कुछ बोलता रहता है, इससे उसके बोलनेवाले अंगों का और अधिक विकास होता है। जब कोई बोलता है, तो वह उसका अनुकरण करने लगता है, और दो-तीन अक्षरोंवाले शब्द भी बोलने लग जाता है। अभी तक उसमें अनुकरण-शक्ति अविकसित होती है, इसलिये शुरू-शुरू में उसका अनुकरण भी अशुद्ध ही होता है। वह 'माखँगा' को, अपना छोटा-सा हाथ उठाकर, 'माऊँगा' बोलता है। इन शब्दों और वाक्यों को बोलने में भी वह मन-ही-मन अपने 'सामान्य प्रत्ययों' का 'विश्लेषण' तथा 'संश्लेषण' कर रहा होता है। जिन बालकों के कंठ आदि में कोई दोष होता है, वे शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। जिन बालकों को 'सामान्य प्रत्ययों' का ज्ञान ठीक नहीं होता, उनमें भी भाषा का विकास नहीं हो पाता। बालकों में भाषा के विकास के लिये भी आवश्यक है कि उन्हें शुद्ध 'प्रत्ययों' के आधार पर 'सामान्य प्रत्ययों' का विशद तथा स्पष्ट ज्ञान कराया जाय।

चतुर्दश अध्याय

'सीखना' तथा 'आदत'

पिछले अध्यायों में जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे 'सीखने' पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। फिर भी, शिक्षा-मनोविज्ञान की पुस्तक में 'सीखने' पर पृथक् विवेचन करना ही उचित है। शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे वह मनुष्य की आदत का हिस्सा बन जाय, इसलिये इस अध्याय में हम 'सीखने' (Learning) तथा 'आदत' (Habit) दोनों पर विचार करेंगे।

१. सीखना

प्राणी अपने को किसी 'स्थिति' (Situation) में पाकर कोई-न-कोई 'प्रतिक्रिया' (Response) करता है। कुत्ता भूखा है, हमारे हाथ में रोटी है, वह रोटी पर लपक पड़ता है। भूखे होने की 'स्थिति' में कुत्ते की यह 'प्रतिक्रिया' है। परंतु यह प्रतिक्रिया 'प्राकृतिक' (Instinctive) है, सीखी हुई नहीं। बालक के सम्मुख कोई बैठा मिठाई खा रहा है, वह उसके आगे हाथ बढ़ा देता है। यह भी प्राकृतिक व्यवहार (Instinctive Behaviour) है, इसे भी सीखना नहीं पड़ता। तो फिर, सीखना क्या है ? कल्पना कीजिए कि हमारे हाथ में मिठाई है,

बालक उसे छीनने का प्रयत्न करता है, हम उसे कहते हैं, माँगोगे तो मिलेगी, छीनने से नहीं मिलेगी। अब बालक मिठाई छीनने के बजाय माँगता है। इस अवस्था में हम कह सकते हैं कि वह एक बात सीख गया है।

एक स्थिति में बालक स्वभाव से जो प्रतिक्रिया करता है, वह 'प्राकृतिक प्रतिक्रिया' (Instinctive Response) है। परंतु हो सकता है कि 'प्राकृतिक प्रतिक्रिया' सामाजिक दृष्टि से अनुचित हो। इसलिये 'प्राकृतिक' की जगह, उसी को आधार बनाकर, हम 'उचित प्रतिक्रिया' (Appropriate Response) बालक को सिखा देते हैं। 'प्राकृतिक शक्तियों' (Instincts) को आधार बनाकर नई-नई बातें बालकों को कैसे सिखाई जा सकती हैं, इसका विस्तृत विवेचन हम 'प्राकृतिक शक्तियों' के प्रकरण में कर चुके हैं।

'उचित प्रतिक्रिया' अनेक संभावित प्रतिक्रियाओं में से एक होती है। बालक मिठाई को सामने देखकर कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ कर सकता है। छीन सकता है, माँग सकता है, चुरा सकता है, इंतिज़ार कर सकता है। इनमें से माँगकर लेने या इंतिज़ार करने को ही हम उचित कहते हैं, दूसरों को अनुचित। अनेक संभावित प्रतिक्रियाओं में से एक का चुन लेना ही 'सीखना' कहाता है। हम किसी एक प्रतिक्रिया को चुनते हैं, दूसरी को नहीं, इसमें क्या नियम काम करता है? मिठाई को माँगकर लेने से सफलता प्राप्त होती है, छीनने से नहीं होती, इस

लिये बालक किसी वस्तु को माँगकर लेना सीख जाता है। इस दृष्टि से 'उचित प्रतिक्रिया' को सीखने का सबसे अच्छा नियम वही समझा जायगा जिससे सफलता प्राप्त हो। किसी बात को सीखने में मुख्य तौर से चार नियम कहे जाते हैं :—

क. किसी काम को करके सीखना

ख. दूसरे को करते देखकर सीखना

ग. सूझ से सीखना

घ. संबद्ध-सहज-क्रिया से सीखना

अब हम इन चारों पर कुछ विचार करेंगे :—

(क). किसी काम को करके सीखना (Learning by Doing) सीखने का बहुत सहल तथा व्यापक तरीक़ा है। थॉर्नडाइक ने इसे 'करना, असफल होना, और फिर करने के तरीक़े' (Learning by Trial and Error Method) का नाम दिया है। हम बाईसिकल चलाना सीखते हैं। कैसे ? हम बार-बार कोशिश करते हैं, बार-बार असफल होते हैं, और अंत में हम बाईसिकल चलाना सीख जाते हैं।

इस तरीक़े को थॉर्नडाइक ने तीन भागों में बाँटा है। वे तीन भाग ये हैं—

(१). परिणाम का नियम (Law of Effect)—अगर किसी 'स्थिति' (Situation) में हम ऐसी 'प्रतिक्रिया' (Response) करते हैं जिससे हमें संतोष (Satisfaction) हुआ है, तो फिर वैसी ही 'स्थिति' उत्पन्न होने पर हम वैसी ही

'प्रतिक्रिया' पहले की अपेक्षा अधिक आसानी से करेंगे। इसके विपरीत, अगर किसी 'स्थिति' में हम ऐसी 'प्रतिक्रिया' करते हैं जिससे हमें 'असंतोष' (Annoyance) हुआ है, तो फिर वैसी ही 'स्थिति' उत्पन्न होने पर हम वैसी 'प्रतिक्रिया' नहीं करेंगे

'सीखना' किसी बात से 'संतोष' अथवा 'असंतोष' पर ही बहुत-कुछ निर्भर है। पशुओं में प्राकृतिक इच्छा के पूरा हो जाने से संतोष होता है, उसके पूरा न होने से असंतोष होता है। मनुष्य में इनाम, दंड, प्रशंसा, निंदा आदि अनेक बातों से संतोष या असंतोष होता है।

'परिणाम के नियम' पर कई परीक्षण किए गए हैं। एक भूल-भुलैय्याँ बनाकर उसमें कहीं भोजन रखकर चूहे को छोड़ दिया जाता है। पहले तो चूहा भूलभुलैय्याँ में इधर-उधर भटकता है, भोजन के लिये जिन रास्तों पर जाने की जरूरत नहीं, उन पर भी जाता है। जब एक बार वह भोजन को ढूँढ़ लेता है, तब फिर उसे उसके बाहर लाकर छोड़ दिया जाता है। इस बार भी वह भोजन तक पहुँचने के लिये कई ग़लतियाँ करता है, परंतु पहले से कम। धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आ पहुँचती है, जब हम उसे भूलभुलैय्याँ के दरवाज़े पर छोड़ते हैं, और वह सीधा, बिना किसी ग़लत रास्ते पर गए, जहाँ भोजन रक्खा होता है वहाँ पहुँच जाता है। इसी प्रकार के परीक्षण बालकों तथा युवाओं पर किए गए हैं, और यह परिणाम निकाला गया है कि मस्तिष्क की रचना ही इस प्रकार की है कि किसी काम को करने में जिस बात से हमें

संतोष होता है वह खुद-ब-खुद सीखी जाती है, जिससे असंतोष होता है, वह भूल जाती है। चूहों, बच्चों तथा युवकों पर भूल-भुलैय्यों के परीक्षण किए गए, और उनसे जो परिणाम निकला, वह निम्न लिखित था—

बार	चूहों की ग़ल्तियाँ	बच्चों की	युवकों की
१ ली बार	५३	३५	१०
२ री ,,	४५	६	१५
३ री ,,	३०	१८	५
४ थी ,,	२२	११	२
५ वीं ,,	११	६	६
६ ठी ,,	८	१३	४
७ वीं ,,	६	६	२
८ वीं ,,	४	६	२
९ वीं ,,	६	५	१
१० वीं ,,	३	५	१
११ वीं ,,	४	१	०

(२). अभ्यास का नियम (Law of Exercise)— अन्य बातों के समान रहने पर, 'स्थिति' के साथ जो 'प्रतिक्रिया' हमने जोड़ी है उसका अभ्यास किया जायगा, तो वह दृढ़ होती जायगी, अभ्यास न किया जायगा, तो वह शिथिल हो जायगी। सीखने के विषय में थॉर्नडाइक का यह दूसरा नियम है।

(३). तत्परता का नियम (Law of Readiness)—

हम किसी काम को करने के लिये किसी समय तत्पर होते हैं, किसी समय नहीं। जब हम किसी काम को करने के लिये तैयार होते हैं, तब उसे करने से संतोष मिलता है, जब तैयार नहीं होते, तब असंतोष होता है। भूख लगी हो, भोजन मिल जाय, तो संतोष होता है; भूख न लगी हो, और कोई खाने को कहता जाय, तो झुँझलाहट होती है। शिक्षक को चाहिए कि शिक्षा देते हुए बालक की तत्परता का खयाल रक्खे। अगर बालक तत्पर नहीं है, तो उसे तत्पर कर ले। बिना तैयार किए बालक को शिक्षा दी जायगी, तो वह उसे बिना भूख लगे दूध देने की तरह उगल देगा, ग्रहण नहीं करेगा। थॉर्नडाइक का सीखने के विषय में यह तीसरा नियम है।

(ख). सीखना किसी काम को करके ही होता हो, दूसरी तरह से न होता हो, यह बात नहीं है। दूसरे को करते हुए देखकर भी बहुत-से काम सीखे जाते हैं। इसे 'अनुकरण से सीखना' (Learning by Imitation) कहते हैं। पशु अनुकरण से बहुत कम सीखते हैं। दो बिल्लियों को लेकर परीक्षण किया गया। भूलभुलैय्याँ के सब रास्ते एक बिल्ली ने सीख लिए थे, दूसरी ने नहीं। जिसने सब सीख रक्खा था, उसे कई बार दूसरी के सामने उसमें से गुज़ारा गया, परंतु दूसरी बिल्ली ने रत्ती-भर नहीं सीखा। बंदर पर जो परीक्षण किए गए उनका भी यही परिणाम निकला। बनमानुस पर किए गए, परीक्षणों से पता लगा कि वह अनुकरण से कई बातें सीख जाता है।

मनुष्य में पशुओं से यह बड़ी भारी विशेषता है कि वह अनुकरण से सीखता है। हमारे ज्ञान का बहुत बड़ा हिस्सा अनुकरण पर आश्रित है।

(ग). कई बातें करके नहीं सीखी जातीं, दूसरे को देखकर भी नहीं सीखी जातीं, अपने-आप, बिना बताए आ जाती हैं, इसे 'सूझ से सीखना' (Learning by Insight) कहते हैं। एक चपांझी के सामने संदूक़ में केला रखकर संदूक़ को बाहर से बंद कर दिया गया। संदूक़ के बाहर एक बटन लगा था जिसे दबाने से वह खुल जाता था। चपांझी ने बिना सिखाए एकदम बटन को दबाया, और संदूक़ का दरवाज़ा खुल गया। अब एक और बटन भी लगा दिया, और पहले को हटाया नहीं गया। चपांझी ने पहले बटन को दबाया, दरवाज़ा नहीं खुला, परंतु दूसरे बटन को भी दबाने के बजाय वह पहले को ही दबाता रहा। कुछ देर बाद उसका ध्यान दूसरे बटन की तरफ़ गया, और उसने उस बटन को दबाया। परंतु इस बार पहला बटन बंद था, इसलिये अब की बार फिर दरवाज़ा नहीं खुला। दोनो बटनों को एकसाथ दबाने का ख़याल उसे नहीं सूझा। कई चपांझी ऐसे पाए गए हैं जिन्हें बहुत अधिक सूझ जाता है। एक चपांझी को पिंजड़े में बंद करके बाहर कुछ दूरी पर एक केला रख दिया गया। उसका हाथ वहाँ तक नहीं पहुँचता था। पास दो बाँस की छड़ियाँ रख दी गईं, परंतु दोनो इतनी छोटी थीं कि जब तक एक दूसरी में फँसाई न जातीं, वे केले तक नहीं

पहुँच सकती थीं। वह देर तक एक-एक छड़ी को उठाकर केला खींचने की कोशिश करता रहा, परंतु अंत में उसने एकदम एक को दूसरी के साथ जोड़ दिया, और उससे केला खींच लिया। पहले वह 'करके, असफल होकर, फिर सीखने' के उपाय (Trial and Error Method) का आश्रय ले रहा था, अब उसे एकदम नई बात सूझ गई थी। बालकों में भी सूझ से कई बातें सीखी जाती हैं। उनके सामने एक-एक बात नहीं, सारी-की-सारी परिस्थिति आ जाती है, और वे ठीक नतीजे पर स्वयं पहुँच जाते हैं।

(घ). बहुत-सी बातें 'संबद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned Reflex) से सीखी जाती हैं। पवलव के परीक्षणों का हम तृतीय अध्याय में वर्णन कर आए हैं। भोजन देखकर कुत्ते के मुख में पानी आ जाना स्वाभाविक है, परंतु घंटी सुनकर उसके मुख में पानी आ जाना 'संबद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned Reflex) का परिणाम है। हमारे ज्ञान का बहुत बड़ा हिस्सा 'संबद्ध-सहज-क्रिया' के सिद्धांत द्वारा समझा जा सकता है। हम किन्हीं चीज़ों से डरते हैं, किन्हीं के प्रति हमें घृणा है, किन्हीं के प्रति हमारा ख़ास प्रकार का खिंचाव है। इन सबका कोई विशेष कारण नहीं होता। किसी दूसरी चीज़ के प्रति डर, घृणा आदि इस चीज़ से संबद्ध हो जाती हैं। ख़रगोश से कौन डरता है? परंतु वाटसन तथा रेनर ने बच्चे के साथ ख़रगोश का परीक्षण किया। पहले ख़रगोश बच्चे के सामने लाया जाता था, वह उससे नहीं

डरता था, परंतु पीछे जब-जब ख़रगोश उसके सामने लाते थे, तब-तब ज़ोर की आवाज़ की जाती थी, बच्चा चौंक जाता था। दो-तीन बार के परीक्षणों के बाद बच्चा ख़रगोश से डरने लगा, आवाज़ से चौंकने का ख़रगोश से संबंध जुड़ गया।

विचारकों में परस्पर इस बात पर विवाद है कि अस्ल में 'सीखना' किस प्रकार होता है ? थॉर्नडाइक कहता है कि ख़ुद करके, असफल होकर, फिर करने से ही कोई बात सीखी जाती है; कई अनुकरण पर बल देते हैं; कई निरीक्षण पर; पवलव, वाटसन आदि 'संबद्ध-सहज-क्रिया' को ही सीखने में एकमात्र प्रक्रिया मानते हैं। परंतु, अस्ल में, सीखने में ये सब प्रक्रियाएँ होती हैं; किसी एक को ही अंतिम नहीं कहा जा सकता।

सीखने में एक बात ध्यान देने की है। जब हम किसी बात को सीखते हैं तब अवयवों से सीखते हैं। कल्पना कीजिए, आप तार देना सीखने लगे। शुरू-शुरू में आप एक-एक अक्षर, एक-एक अवयव को पढ़ते हैं। परंतु परीक्षणों से पता लगा है कि आगे चलकर तार भेजने में एक-एक अक्षर हमारे सम्मुख नहीं होता, पूरे-पूरे शब्द होते हैं, और इससे भी आगे चलकर हमारे सम्मुख शब्द-समूह होते हैं। पहले अक्षरों के अलग-अलग हिज्जों की आदत पड़ती है, फिर शब्दों की आदत पड़ती है, और बाद को कई इकट्ठे शब्दों की आदत पड़ जाती है। पहले अवयव से हम शुरू करते हैं, परंतु आगे चलकर अवयव-समूह (Patterns) से हम काम करते हैं। टाइप करना सीखने में भी यही प्रक्रिया होती है।

टाइप करनेवाला उँगली चलाता हुआ पहले अलग-अलग अक्षर को अपने सामने रखता है, बाद को वह शब्द पढ़ता जाता है, और टाइप करता जाता है। इससे भी आगे चलकर उसका मन दो-तीन शब्द आगे होता है, और उँगलियाँ दो-तीन शब्द पीछे होती हैं। हमारे मन में पहले अवयव विश्लिष्ट रूप में थे, अब कई अवयवों के मिलकर बड़े-बड़े अवयव बन जाते हैं। सीखने की प्रत्येक प्रक्रिया में यह बात अवश्य होती है।

२. आदत (Habit)

'आदत' सीखने का ही एक रूप है, परंतु दोनो को एक ही नहीं कहा जा सकता। जब हम किसी बात को सीखना शुरू करते हैं तब हमें सारा ध्यान उधर लगाना पड़ता है; जब हमें उसकी आदत पड़ जाती है तब बिना ध्यान दिए हम उस काम को करने लगते हैं। आदत एक प्रकार की 'सहज-क्रिया' हो जाती है। 'आदत' (Habit) और 'प्राकृतिक व्यवहार' (Instinctive Behaviour) दोनो में हम सहज-क्रिया की तरह व्यवहार करते हैं, परंतु आदत 'अर्जित सहज-क्रिया' (Acquired Reflex Action) और प्राकृतिक व्यवहार 'स्वाभाविक सहज-क्रिया' (Innate Reflex Action) है। 'आदत' तथा 'बुद्धि' में संबंध यह है कि जिस काम की हमें आदत पड़ जाती है, उसे हम सोचते नहीं हैं, करते जाते हैं; बुद्धिपूर्वक कार्य में सोचने की ज़रूरत पड़ती है। 'आदत' एक यांत्रिक प्रक्रिया है, और जीवन में हमारे समय की बहुत बचत कर देती है। अगर

कपड़े पहनने, चलने, बाईसिकल चलाने आदि में हमें सोचना पड़ता, तो जीवन दूभर हो जाता। हम बाईसिकल भी चलाते जाते हैं, और बात-चीत भी करते जाते हैं, यह 'आदत' के ही कारण है।

जब भी हम कोई नई बात सीखते हैं, तभी मस्तिष्क में कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता है, यह हम पहले कह चुके हैं। अगर बार-बार उस बात को दोहराया जाय, तो मस्तिष्क पर गहरे संस्कार पड़ जाते हैं। कभी-कभी इकला संस्कार भी ऐसा प्रबल होता है कि मस्तिष्क में स्थिर हो जाता है। मस्तिष्क की रचना लुचलुची है, और इसलिये इसमें संस्कार संचित रहते हैं। जब किसी एक मार्ग से लगातार संस्कार पड़ते हैं, तब वे ही 'आदत' का रूप धारण कर लेते हैं, और हमें इन संस्कारों द्वारा किए जानेवाले कामों में ध्यान नहीं देना पड़ता। पाँव को जूते की आदत पड़ जाती है, जूता बदल गया हो, तो शरीर ही कह देता है कि यह मेरा नहीं है। भौतिक पदार्थों में भी आदत का यह नियम काम करता दिखाई देता है। अगर किसी पुस्तक का एक ही पृष्ठ बार-बार खोला जाय, तो फिर वही आप-से-आप खुलने लगता है। आदतें अच्छी भी हो सकती हैं, बुरी भी। अच्छी आदतों के डालने तथा बुरी को छोड़ने के विषय में जेम्स ने कुछ महत्त्व-पूर्ण नियमों का प्रतिपादन किया है। वे निम्न हैं :—

(क). जब किसी नई आदत को डालना हो, या पुरानी को छोड़ना हो, तो उसका प्रारंभ बड़ी प्रबलता तथा दृढ़ निश्चय से

करो, उसमें मन की संपूर्ण संकल्प-शक्ति लगा दो। फिर उस संकल्प को सफल बनाने में जितने उपायों का अवलंबन कर सको, करो। अगर कोई बुराई न प्रतीत हो, तो बेशक सबके सामने प्रतिज्ञा कर लो ताकि फिर उसे तोड़ते हुए तुम्हें लज्जा प्रतीत हो।

(ख). जब तक कोई नई आदत पूरी तरह से न पड़ जाय, और पुरानी छूट न जाय, तब तक उसमें अपवाद मत होने दो। युद्ध में छोटी-सी भी विजय आगे आनेवाली बड़ी विजयों में सहायक होती है; छोटी-सी भी पराजय पराजयों की तरफ़ ले जाती है। शुरू-शुरू में ढील नहीं डालनी चाहिए। 'एक बार और कर लें, फिर न करेंगे', यही विचार संकल्प-शक्ति का शत्रु है।

(ग). जो इरादा करो, उसे पहला मौक़ा मिलते ही पूरा करो। जो लोग केवल इरादे करते रहते हैं, वे संकल्प-शक्ति को और अधिक कमज़ोर बना लेते हैं। अवसर मिलने पर जो उसका लाभ नहीं उठाता, वह आगे चलकर उस अवसर के लिये तरसता है, और अवसर हाथ नहीं आता।

(घ). बच्चों को कोरा उपदेश देते रहने से काम नहीं चलता, उन्हें जिस बात का हम उपदेश देते हैं, उसकी जगह काम कराना सबसे अच्छा है। शिक्षक बच्चों से जो कुछ कराना चाहता है, उसे वह काम स्वयं करके भी दिखाना चाहिए ताकि बालक अनुकरण द्वारा उसे सीखकर अपनी आदत बना ले। 'सुलेख लिखो'—यह उपदेश इतना कारगर नहीं हो सकता जितना सुलेख

लिखवाना, और इसके साथ ख़ुद अच्छा लेख लिखकर दिखलाना।

(ङ). जो आदत डालनी हो, उसका कुछ-न-कुछ अभ्यास आवश्यकता न पड़ने पर भी करते रहो। इस प्रकार का अभ्यास बोमा कराने के समान है। जो व्यक्ति अपने घर का बीमा करा लेता है, उसे कुछ-न-कुछ देना पड़ता है। हो सकता है, उसे आयु-भर देते ही रहना पड़े। परंतु अगर दुर्भाग्य-वश कभी उसके मकान को आग लग जाय, तो उसे पछताना नहीं पड़ता, उसका सारा रुपया वसूल हो जाता है। इसी प्रकार प्रतिदिन के व्यवहार में धीरता, वीरता, त्याग आदि गुणों के इस्तेमाल से इनको आदत पड़ जाती है, और मौक़े पर ये काम देते हैं। जो आदमो तैरना सीख गया, उसे कभी तैरना काम दे सकता है, जो लाठी चलाना सीख गया, वह कभो दुश्मनों से घिरने पर अपनी जान बचा सकता है।

बुरी आदतों को छोड़ने के विषय में डनलप महोदय ने कुछ ऐसे परीक्षण किए हैं जिनसे विचित्र परिणाम निकलता है। समझा तो यह जाता है कि बुरी आदत को जितना दोहराया जायगा, उतनी ही वह दृढ़ होती जायगी। डनलप महोदय का कथन है कि बुरी आदत तभी तक रहती है जबतक हमें इस बात का ख़याल नहीं होता कि यह बुरी है, जबतक हम उसे अच्छी ही समझते रहते हैं। जिस क्षण हमें उसके बुरे होने का ज्ञान हो जाता है, तभी से हमें उससे 'असंतोष' (Annoyance)

होने लगता है, और वह अपने-आप छूट जाती है। डनलप महोदय को टाइप करते हुए 'The' के स्थान पर 'hte' टाइप करने की आदत पड़ गई थी ! इसे दूर करने के लिये उन्होंने ध्यान-पूर्वक सैकड़ों बार 'hte' टाइप किया, और इस ध्यान से किया कि यह अशुद्ध है। आगे से जब भी वह 'the' टाइप करते थे, तो ठीक टाइप होता था, ग़लत नहीं। एक आदमी तुतलाकर बोलता था। उससे कहा गया कि वह जान-बूझकर तुतलाने का अनुकरण करे। जब वह जान-बूझकर तुतलाता था, तब उसे तुतलाने में प्रयास करना पड़ता था, और उसके ध्यान में यह होता था कि यह ठीक तौर से बोलना नहीं है। इस परीक्षण से उसका बोलना ठीक हो गया। इस विषय में अधिक परीक्षण नहीं किए गए, परंतु इस प्रकार के परीक्षणों से कई मनोरंजक परिणाम निकल सकते हैं, ऐसा अवश्य प्रतीत होता है।

यह जानने के लिये कि नई बात 'सीखने' अथवा 'आदत' पड़ने की क्या रफ़्तार होती है, टाइप आदि सीखने पर कई परीक्षण किए गए हैं, जिनसे निम्न परिणाम निकले हैं—

(क). नई बात एक ही रफ़्तार से नहीं सीखी जाती। शुरू-शुरू में नई बात सीखने की रफ़्तार काफ़ी तेज़ होती है, उसके बाद धीमी पड़ जाती है। प्रारंभ में अभ्यास से, बार-बार करने से, आदत बढ़ती है, अतः शिक्षक को बार-बार के अभ्यास द्वारा नई आदत के डालने का प्रयत्न करना चाहिए। टाइप आदि सीखने में शुरू-शुरू में काफ़ी तेज़ी होती है, बाद को गति रुक जाती है।

(ख). एक हद तक उन्नति करने के बाद मनुष्य रुक जाता है। इस हद को 'शिक्षण की समस्थली' (Plateau of Learning) कहते हैं। जिस प्रकार पहाड़ पर चढ़ते हुए कहीं-कहीं समस्थली आ जाती है, इसी प्रकार सीखने की तरफ़ उन्नति करते-करते समस्थली आ जाती है, जिससे आगे बढ़ना बालकों के लिये कठिन हो जाता है। कई बालक इस हद से आगे नहीं बढ़ सकते, कई बढ़ सकते हैं, परंतु इसके लिये शिक्षक को उत्तेजना देने के अन्य उपायों को सोचना पड़ता है।

पंचदश अध्याय

बुद्धि-परीक्षा

१. 'बुद्धि' तथा 'विद्या' में भेद

प्राचीन काल में 'बुद्धि' (Wisdom) तथा 'विद्या' (Knowledge) को एक समझा जाता था। जिसमें जितनी अधिक विद्या होती थी, जो जितना अधिक पढ़ा होता था, वह उतना ही अधिक बुद्धिमान् समझा जाता था। परंतु आजकल ऐसा नहीं माना जाता। 'विद्या' पढ़ाने-लिखाने से आती है, 'बुद्धि' बालक में पहले से मौजूद होती है; 'विद्या' परिस्थिति का परिणाम है, 'बुद्धि' वंशानुसंक्रमण के द्वारा प्राप्त होती है; हो सकता है कि एक व्यक्ति 'विद्वान्' हो, परंतु 'बुद्धिमान्' न हो; इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि एक व्यक्ति 'बुद्धिमान्' हो, परंतु विद्वान् न हो; 'विद्या' बाहर से प्राप्त होती है, 'बुद्धि' मनुष्य का आभ्यंतर गुण है; बहुत-सी बातें जान लेना 'विद्या' है, परंतु उनका इस्तेमाल कर सकना, उन्हें जीवन में उपयोगी बना सकना 'बुद्धि' है।

जीवन में 'विद्या' तथा 'बुद्धि' दोनो की उपयोगिता है, परंतु 'बुद्धि' विद्या की अपेक्षा भी अधिक उपयोगी है। 'बुद्धि' क्या है ? 'बुद्धि' मनुष्य की एक स्वाभाविक शक्ति का नाम है जिसे

वह जन्म से ही अपने साथ लाता है। बुद्धिमान् व्यक्ति नवीन परिस्थिति में घबराता नहीं, झट-से अपने को उसके अनुकूल बना लेता है; वह मानसिक कार्यों को मूर्ख व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आसानी से कर सकता है; किन्हीं पदार्थों की तुलना, उनके वर्गीकरण, उनके विषय में विचार करने में उसे कठिनाई नहीं होती; वह किसी बात को जल्दी सीख जाता है, और उसे देर तक अपने दिमाग़ में रख सकता है। 'बुद्धि' के इस लक्षण से स्पष्ट है कि शिक्षा की दृष्टि से इस शक्ति की कितनी उपयोगिता है। इसीलिये, देर से 'बुद्धि' को परखने के अनेक उद्योग होते रहे हैं। इस विषय में आगे बढ़ने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि वे उद्योग क्या रहे हैं।

२. 'बुद्धि-परीक्षा' का इतिहास

जैसा अभी कहा गया, शुरू-शुरू में, 'बुद्धि' तथा 'विद्या' में भेद नहीं समझा जाता था। प्रचलित परीक्षा-प्रणाली से ही उस समय 'विद्या' को मापा जाता था, और 'विद्या' के मापने को ही 'बुद्धि' का मापना समझा जाता था। धीरे-धीरे यह भाव उत्पन्न हुआ कि प्रचलित परीक्षा-प्रणाली से तो 'विद्या' मापी जा सकती है, पुस्तक को कितना घोट लिया है, यह मापा जा सकता है, इससे 'बुद्धि' को नहीं मापा जा सकता। इस विचार के उत्पन्न होने के साथ-साथ 'विद्या' को मापकर 'बुद्धि' के पता लगाने के प्रयत्न को छोड़ दिया गया, और 'बुद्धि' को मापने के अन्य उपायों का अवलंबन किया जाने लगा।

(क). १७७५–७८ में लेवेटर ने मुखाकृति-विज्ञान (Physiognomy) पर एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें बतलाया गया था कि चेहरे को देखकर किसी व्यक्ति की बुद्धि का पता लगाया जा सकता है। नाक लंबी हो, तो एक बात सूचित होती है, चपटी हो, तो दूसरी। बड़े-बड़े कानों से एक बात सूचित होती है, छोटे कानों से दूसरी। इस प्रकार लेवेटर तथा उसके अनुयायियों ने मुख की भिन्न-भिन्न आकृतियों से बुद्धि की परीक्षा करने का प्रयत्न किया जिसे अब प्रामाणिक नहीं माना जाता।

(ख). अठारहवीं शताब्दी के अंत में गाल (१७५८–१८२८) तथा स्पुरज्हीम ने मस्तिष्क के उभार तथा दबाव के आधार पर बुद्धि-परीक्षा करने का प्रयत्न किया। स्पुरज्हीम का कथन था कि कोई ख़ास शक्ति बढ़ी हुई हो, तो मस्तिष्क का एक ख़ास हिस्सा उभर जाता है; वह हिस्सा दबा हो, तो मनुष्य में उस शक्ति की कमी होती है। इन सिद्धांतों को आधार बनाकर 'कपाल-रचना-विज्ञान' (Phrenology) की नींव रक्खी गई, परंतु इसे भी अब प्रामाणिक नहीं माना जाता।

(ग). उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में लॉम्ब्रोसो ने अनेक अपराधियों के सिर, नाक, कान आदि का अध्ययन करके इस बात पर ज़ोर दिया कि अपराधियों के सिर आदि की बनावट दूसरों से भिन्न होती है, अतः इसके आधार पर बुद्धि की परीक्षा भली प्रकार की जा सकती है। बर्ट तथा पीयरसन ने इस सिद्धांत का खंडन किया, और अब इस सिद्धांत को कोई नहीं मानता।

३. बिनेट-साइमन परीक्षा-प्रणाली

'बुद्धि' को मापने के उक्त उद्योगों के बाद आजकल बीसवीं सदी में जो उद्योग किए गए उनमें से मुख्य बिनेट-साइमन परीक्षा-प्रणाली है। बिनेट फ़्रांस का रहनेवाला मनोविज्ञान का पंडित था। फ़्रांस की पाठशालाओं के प्रबंधकर्ताओं ने उससे ऐसे बालकों का पता लगाने में सहायता चाही जो बुद्धि की दृष्टि से हीन कहे जा सकते थे, और दूसरे बालकों के साथ किसी प्रकार भी नहीं चल सकते थे, ताकि उन्हें तेज़ लड़कों से अलग करके पृथक् स्कूलों में भर्ती किया जाय। साइमन भी फ़्रांस का मनोवैज्ञानिक पंडित था, और उसने इन परीक्षणों में सहायता दी थी। बिनेट तथा साइमन ने अनेक परीक्षणों के बाद एक परीक्षा-प्रणाली निर्धारित की जो 'बिनेट-साइमन परीक्षा-प्रणाली' के नाम से प्रसिद्ध है। इन लोगों ने १९११ में ५४ प्रश्न तैयार किए, जिनके आधार पर बालकों की बुद्धि की परीक्षा की जाती थी। इन प्रश्नों से तीन वर्ष से लेकर युवावस्था तक बालक की बुद्धि की परीक्षा होती थी। तीन वर्ष के बालक के लिये जो प्रश्न निश्चित किए गए थे, अगर वह उन सबका उत्तर दे सकता था, तब तो उसकी 'मानसिक आयु' (Mental Age) भी तीन वर्ष की समझी जाती थी, नहीं तो शारीरिक दृष्टि से तीन वर्ष का होने पर भी उसकी 'मानसिक आयु' तीन से कम समझी जाती थी। प्रत्येक वर्ष के लिये पाँच-पाँच प्रश्न निश्चित किए गए थे, चार वर्ष की आयुवाले बालक के लिये केवल चार प्रश्न। ११-१३-१४ वर्ष

के लिये वे लोग किन्हीं निश्चित प्रश्नों का निर्धारण न कर सके। एक-एक प्रश्न उस वर्ष की आयु के उतने ही हिस्से को सूचित करता था। अगर १० वर्ष का बालक ६ वर्ष के सब प्रश्नों का उत्तर दे दे, परंतु १० वर्ष के पाँच प्रश्नों में से केवल एक प्रश्न का उत्तर दे सके, तो उसकी 'मानसिक आयु' १० वर्ष न होकर ६ वर्ष और $\frac{१२}{५} = २\frac{२}{५}$ महीने होगी। १२ यहाँ पर वर्ष के १२ महीनों को सूचित करता है, और ५ उन ५ प्रश्नों को जो इस आयु में उसे कर लेने चाहिएँ। अगर प्रश्न पाँच की जगह छः बना दिए जायँ, तो एक-एक प्रश्न दो-दो महीने को सूचित करेगा, और जो बालक १० वर्ष की आयु में १० वर्ष के केवल तीन प्रश्न हल कर सकेगा, उसकी 'मानसिक आयु' ६ वर्ष ६ महीने गिनी जायगी। किसी बालक की 'मानसिक आयु' निकालने का तरीक़ा यह है कि पहले उसकी आयु लिख ली जाती है, फिर उस आयु के प्रश्न उसे हल करने को दिए जाते हैं। अगर वह उन प्रश्नों को हल कर ले, तब तो उसकी वही 'मानसिक आयु' समझी जाती है, नहीं तो उस आयु से नीचे के प्रश्न हल करने को उसे दिए जाते हैं। जितने प्रश्नों को वह हल कर सकता है, उनसे उसकी जितनी आयु बनती है, उतनी उसकी 'मानसिक आयु' समझी जाती है। कई बालक अपनी आयु से ऊपर के प्रश्नों को हल कर सकते हैं, उनकी संख्या के अनुसार उन्हें उसी 'मानसिक आयु' का कहा जाता है। बिनेट के प्रश्नों का नमूना निम्न प्रकार है :—

तीन वर्ष

१. आँख, नाक, मुँह को उँगली से बता सके।

२. दो अंक, जैसे २—३ ...४—६,...को एक बार सुनकर दोहरा दे।

३. किसी चित्र को देखकर उसमें की वस्तुओं को बता दे।

४. अपना नाम बतला सके।

५. छः शब्दों के सरल वाक्य को दोहरा सके।

चार वर्ष

१. अपने बालक या बालिका होने को बता सके।

२. चाबी, चाक़ू, पैसे को देखकर इनका नाम ले सके।

३. तीन अंक, जैसे ५, ६, ७ को एक बार सुनकर दोहरा दे।

४. दो रेखाओं में से छोटी और बड़ी को पहचान सके।

पाँच वर्ष

१. दो वज़नों की तुलना कर सके।

२. एक सम-चतुर्भुज को देखकर उसकी नक़ल कर सके।

३. दस शब्दों के सरल वाक्य को दोहरा सके।

४. चार पैसों को गिन सके।

५. एक आयत के दो टुकड़ों को जोड़ सके।

४. टरमैन की परीक्षा-प्रणाली

बिनेट की १६११ में मृत्यु हो गई, नहीं तो वह स्वयं अपनी प्रश्नावली का परिशोधन तथा परिवर्धन करता। बिनेट के बाद इन प्रश्नों को और अधिक परिष्कृत करने का प्रयत्न किया

गया। ये उद्योग इँगलैंड तथा अमेरिका में हुए। इँगलैंड में बर्ट ने बिनेट के साथी साइमन की सहायता से, लंडन के स्कूलों में उक्त प्रश्नों के द्वारा बालकों की बुद्धि-परीक्षा की। बर्ट ने बिनेट के प्रश्नों में संशोधन भी किया, और उनकी संख्या ५४ से ६५ तक बढ़ा दी। ये प्रश्न ३ वर्ष से १६ वर्ष की आयु तक हैं, और प्रत्येक वर्ष के प्रश्नों की संख्या बराबर नहीं है। इन प्रश्नों का दूसरा संशोधन अमेरिका में टरमैन ने किया, इन्हें 'स्टैनफोर्ड-संशोधन तथा परिवर्द्धन' (Stanford Revision and Extension) कहते हैं। टरमैन के प्रश्नों की संख्या ६० है। प्रत्येक वर्ष के लिये पाँच की जगह छः प्रश्न हैं, १२ वर्ष की आयु के लिये ८ प्रश्न हैं। बिनेट की प्रश्नावली में से केवल १६ को टरमैन ने वैसे-का-वैसा रक्खा है, नहीं तो सबमें अदला-बदली कर दी है। नमूने के तौर पर हम टरमैन के कुछ प्रश्नों को नीचे देते हैं :—

तीन वर्ष

[प्रत्येक प्रश्न दो-दो मास का सूचक है]

१. आँख, नाक, मुँह आदि अंगों को उँगली से बता सके।

२. चाबी, चाकू, पैसे आदि को देखकर इनका नाम ले सके।

३. किसी सरल चित्र को देखकर उसकी कुछ वस्तुएँ बता सके।

४. अपने बालक या बालिका होने को बता सके।

५. अपने घराने का नाम बता सके।

६. छः-सात अक्षरों तक के वाक्य को दोहरा सके।

चार वर्ष

[प्रत्येक प्रश्न दो-दो मास का सूचक है]

१. दो रेखाओं में से छोटी-बड़ी को पहचान सके।

२. वृत्त, वर्ग, आयत आदि को पहचान सके।

३. चार पैसों को गिन सके।

४. एक सम-चतुर्भुज को देखकर उसकी नक़ल कर सके।

५. सरल समझ को परखना, जैसे भूख लगे तो क्या करोगे?

६. चार अंक, जैसे ४, ३, ७, ९ को सुनकर इकट्ठा दोहरा सके।

पाँच वर्ष

[प्रत्येक प्रश्न दो-दो मास का सूचक है]

१. दो वज़नों की तुलना कर सके।

२. लाल, पीले, नीले, हरे रँग को पहचान सके।

३. दो वस्तुओं की तुलना करके अधिक सुंदर को बता सके।

४. कुर्सी, घोड़ा, गुड़िया आदि का लक्षण कर सके।

५. कुछ ऐसे परीक्षण जिनसे धैर्य की परीक्षा हो।

६. तीन बातें क्रम से करने को कहना, उस क्रम से करता है या नहीं?

बिनेट ने 'मानसिक आयु' (Mental Age) निकालने के लिये अपने प्रश्न बनाए थे; टरमैन ने उन नियमों का संशोधन करने के अतिरिक्त 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence Quotient) के निकालने के नियम का भी प्रतिपादन किया। केवल 'मानसिक आयु' के पता लगने से यह ज्ञात नहीं होता

कि बालक कितना तेज़ या सुस्त है। इस बात को जानने के लिये 'मानसिक आयु' तथा 'वास्तविक आयु' को एकसाथ जानना आवश्यक है। 'मानसिक आयु' तथा 'वास्तविक आयु' को एक-साथ जानने का सहल तरीक़ा यह है कि 'मानसिक आयु' को 'वास्तविक आयु' से भाग दे दिया जाय। इसी को 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence Quotient या IQ) कहते हैं। अगर किसी की 'मानसिक आयु' ८ वर्ष हो, 'वास्तविक आयु' १२ वर्ष हो, तो उसकी 'बुद्धि-लब्धि' ८/१२ = ·६७ होगी। इसी प्रकार अगर किसी की 'मानसिक आयु' ८ वर्ष और 'वास्तविक आयु' ५ वर्ष हो, तो उसकी 'बुद्धि-लब्धि' ८/५ = १·६ होगी। जिस बालक की 'मानसिक आयु' तथा 'वास्तविक आयु' एक ही हों, उसकी 'बुद्धि-लब्धि' १ होगी। 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) को प्रायः प्रतिशत में प्रकट किया जाता है, और इसलिये किसी बालक की 'बुद्धि-लब्धि' निकालने के लिये 'मानसिक आयु' को 'वास्तविक आयु' से भाग देकर उसे १०० से गुणा कर दिया जाता है। इस दृष्टि से साधारण बुद्धिवाले बालक की 'बुद्धि-लब्धि' १०० मानी गई है। हज़ारों बालकों पर परीक्षा करके मनोवैज्ञानिकों ने 'बुद्धि-लब्धि' का निम्न-प्रकार से वर्गीकरण किया है :—

बुद्धि-लब्धि	बुद्धि
१५० से अधिक	प्रतिभा-संपन्न (Genius)
१४० से १५०	प्रायः प्रतिभा-संपन्न (Near Genius)
१३० से १४०	अत्युत्कृष्ट (Very Superior Intelligence)

११० से १२० ...... उत्कृष्ट (Superior Intelligence)
९० से ११० ...... साधारण (Normal, Average)
८० से ९० ...... मंद (Dullness)
७० से ८० ...... प्राय: हीन (Feeble-mindedness)
७० से कम ...... हीन (Moron)

५. समूह-बुद्धि-परीक्षा

विनेट तथा टरमैन की जिन परीक्षा-प्रणालियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, इनका सबसे बड़ा दोष यह था कि इनमें समय बहुत लगता था। एक-दो बालकों की बुद्धि की परीक्षा करनी हो, तब तो ठीक था, परंतु अगर अनेक बालकों की परीक्षा करनी हो, तब इस प्रकार परीक्षा करने से बहुत समय नष्ट होता था। इसलिए यह अनुभव होने लगा कि समूह-के-समूह की इकट्ठी परीक्षा लेने का उपाय निकालना चाहिए। यह उपाय गत महायुद्ध के समय अमेरिका में निकला, और इसे 'समूह-बुद्धि-परीक्षा' (Group Test) कहा जाता है। युद्ध के समय यह देखने की आवश्यकता होती थी कि कौन-से व्यक्ति सेना में भर्ती होकर बुद्धि-पूर्वक कार्य करने की योग्यता रखते हैं। तब एक-एक की परीक्षा की जाती, तो बहुत समय लगता। उस समय मनोवैज्ञानिकों ने सोच-विचारकर 'समूह-बुद्धि-परीक्षा' को निकाला। इसमें कई प्रश्न बनाए गए थे, जो छापकर जिनकी परीक्षा लेनी होती थी उन्हें बाँट दिए जाते थे, और उनके उत्तरों से उनकी बुद्धि की परीक्षा एकसाथ हो जाती थी। इन प्रश्नों का चुनाव भी

बड़े सोच-विचार के बाद किया गया था, और इन प्रश्नों को प्रामाणिक बना लिया गया था। अमेरिका में टरमैन ने 'टरमैन समूह-बुद्धि-परीक्षा'-प्रश्न तैयार किए हैं। इसी प्रकार इँगलैंड में बैलार्ड ने 'चेलसी समूह-बुद्धि-परीक्षा', बर्ट और टामसन ने 'नार्थम्बरलैंड समूह-बुद्धि-परीक्षा'-प्रश्न तैयार किए हैं। इन प्रश्नों द्वारा कहीं-कहीं स्कूलों के बालकों की बुद्धि-परीक्षा की जाने लगी है। स्कूल के बालकों के लिए जो प्रश्न किए जाते हैं, उनका कुछ नमूना 'नार्थम्बरलैण्ड समूह-बुद्धि-परीक्षा' से नीचे दिया जाता है:—

(क). नीचे लिखी शब्दावली की श्रेणी में से उस शब्द को काट दो, जो श्रेणी में उचित न प्रतीत होता हो :

बाल पर ऊन घास लट

दान दया क्षमा बदला प्रेम

(ख). नीचे-लिखी अंकमाला में जो अंक अपनी श्रेणी में उचित न प्रतीत होता हो, उसे काट दो :

२६ ३ ७ ३६ १३ ६२

१८ २२ ३० २४ ६ १२

(ग). नीचे-लिखी प्रत्येक पंक्ति के पहले दो शब्दों में कुछ संबंध है। उस संबंध को मालूम करो, और दिए हुए शब्दों में जिस-जिस शब्द का तीसरे शब्द के साथ वही संबंध हो, उसके नीचे लकीर खींच दो :

बंदूक : निशाना लगाना : : चाकू : दौड़ना, काटना, चिड़िया, टोपी।

जूता : पैर : : टोपी : कोट, नाक, सिर, कालर।

इन प्रश्नों तथा इन्हीं की तरह के अन्य पचासों प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर बालकों की 'मानसिक आयु' का पता लगाया जा सकता है।

ऊपर हमने 'व्यक्तिगत' तथा 'समूह-बुद्धि-परीक्षा' का वर्णन किया है, परंतु इन सबमें भाषा की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ हम दूसरे की बात समझ न सकते हों, वहाँ उक्त परीक्षाएँ काम में नहीं आ सकतीं। बहरों तथा गूँगों के लिये 'क्रिया-परीक्षाएँ' (Performance Tests) निश्चित की गई हैं, जिनका यहाँ विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence Test) की तरह 'विद्या-परीक्षा' (Achievement Test) के भी उद्योग किए गए हैं। 'बुद्धि-परीक्षा' से बालक की स्वाभाविक बुद्धि की परीक्षा होती है, 'विद्या-परीक्षा' से अर्जित बुद्धि की। परंतु इस दिशा में अभी विशेष प्रयत्न नहीं हुआ।

६. दो परिणाम

'बुद्धि-परीक्षा' पर जो परीक्षण हुए हैं, उनसे दो ऐसे परिणाम निकलते हैं जिनपर ध्यान देना आवश्यक है। वे परिणाम निम्न हैं:-

(क). 'बुद्धि-लब्धि' प्रत्येक बालक की भिन्न-भिन्न होती है, और इसपर शिक्षा का प्रभाव नहीं पड़ता। अगर किसी बालक की छः वर्ष में 'बुद्धि-लब्धि' १०० है, तो १० वर्ष में भी लगभग इतनी ही होगी। एक लड़की पर इस संबंध में परीक्षण किए गए, जो इस प्रकार थे।

	वास्तविक आयु		मानसिक आयु		बुद्धि-लब्धि
प्रथम परीक्षा	६ वर्ष	८ महीने	५ व०	६ म०	८२
द्वितीय परीक्षा	७ व०	१ म०	५	४	७५
तृतीय परीक्षा	८ व०	२ म०	६	१०	८४
चतुर्थ परीक्षा	८ व०	७ म०	७	०	८१
पंचम परीक्षा	१२ व०	१० म०	९	१०	७७

इसी प्रकार अनेक लड़कियों पर भिन्न-भिन्न आयुओं में परीक्षण किए गए, और यही परिणाम निकला कि 'बुद्धि-लब्धि' में बहुत अधिक भेद नहीं पड़ता।

(ख). दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है, यह है कि 'मानसिक आयु' (Mental Age) १६ वर्ष के क़रीब-क़रीब पहुँचकर आगे नहीं बढ़ती। मंद-बुद्धि बालक १४ वर्ष में ही अपनी अधिक-से-अधिक 'मानसिक आयु' पर पहुँच जाते हैं, तीक्ष्ण बुद्धिवाले १८ वर्ष तक उन्नति करते रहते हैं, परंतु उसके बाद 'विद्या' में तो उन्नति हो सकती है, 'बुद्धि' में नहीं।

७. 'बुद्धि-परीक्षा' का उपयोग

'बुद्धि-परीक्षा' का शिक्षा की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। इस समय बच्चों की शिक्षा अंधाधुंध चलती है। तेज़ और कमज़ोर बालकों को इकट्ठा पढ़ाया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि शिक्षक न तेज़ बालकों को ही अपने साथ रख सकता है, न कमज़ोर बालकों को ही। हमारे शिक्षा-क्रम में कई ऐसे बालकों को ज़बर्दस्ती पढ़ाया जाता है जिन्हें कभी का दस्तकारी

या इसी प्रकार के अन्य किसी धंधे में लग जाना चाहिए था। बहुत-से तेज़ बालक जो डाकगाड़ी की भाँति कई स्टेशन एकदम पार कर सकते थे, मालगाड़ी की चाल से चलते हैं, क्योंकि उसी कक्षा में सब तरह का माल भरा होता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का यह बड़ा भारी दोष है। सबसे अच्छा तो यह हो, अगर प्रत्येक बालक पर वैयक्तिक ध्यान दिया जा सके, परंतु अगर इतना नहीं हो सकता, तो यह तो ज़रूर होना चाहिए कि प्रत्येक कक्षा में एक ही 'बुद्धि-लब्धि' के बालक हों, ताकि वे सब एकसाथ चल सकें। अनेक तेज़ बालकों को जब मालगाड़ी की रफ़्तार से चलने को बाधित किया जाता है, तो वे अपनी अतिरिक्त-शक्ति का शरारतों में प्रयोग करते हैं, और तेज़ कहे जाने के बजाय शरारती कहे जाते हैं। शिक्षक का कर्तव्य है कि ऐसे बालकों को या तो 'डबल प्रोमोशन' दे दे, या उन्हें छाँटकर उनकी अलग कक्षा बनाए। तेज़ बालकों को छात्र-वृत्ति देने में भी बुद्धि-परीक्षा का अच्छा उपयोग हो सकता है। जिनकी 'बुद्धि-लब्धि' ऊँची हो, उनके ग़रीब होने पर भी उन्हें छात्र-वृत्ति दी जानी चाहिए, क्योंकि ऐसे बालक देश की संपत्ति होते हैं। प्रचलित परीक्षा-पद्धति से तो तोता-रटन की जाँच होती है, असली बुद्धि की नहीं, इसलिये 'बुद्धि-परीक्षा' की प्रणाली का जितना हो सके, प्रयोग करना चाहिए। स्कूलों में नवीन छात्र भर्ती करने तथा अन्य व्यवसायों में नवीन व्यक्ति लेने में भी 'बुद्धि-परीक्षा' करना बहुत उपयोगी रहता है।

८. भारत तथा 'बुद्धि-परीक्षा'

'बुद्धि-परीक्षा' का प्रारंभ फ्रांस में हुआ था। विनेट ने फ्रांस के अरब-बालकों पर अपने परीक्षण किए थे। अमेरिका तथा इँगलैंड में विनेट की प्रश्नावली में परिवर्तन करना पड़ा। सैकड़ों बालकों पर परीक्षण करने के बाद उक्त प्रश्नावलियाँ निर्धारित की गईं। इसलिये भारत में उन प्रश्नों का सिर्फ़ अनुवाद कर लेने से काम न चलेगा। प्रत्येक देश की अवस्था भिन्न-भिन्न है। आवश्यकता इस बात की है कि कुछ मनोवैज्ञानिक देश में हज़ारों बालकों पर परीक्षण करके निश्चित प्रश्नावलियों का निर्धारण करें। कई स्थानों पर इस विषय में बड़े उपयोगी परीक्षण हो रहे हैं। बनारस में ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपल रा० ब० लज्जाशंकर झा इस विषय में बहुत दिलचस्पी से काम ले रहे हैं। उन्होंने सी० ए० रिचर्डसन द्वारा रचित 'समूह-बुद्धि-माप' को भारतीय परिस्थिति के अनुसार संशोधित करके एक प्रश्न-पुस्तिका तैयार की है, जो बड़ी उपयोगी है। कुछ काम क्रिश्चियन कॉलेज, लाहौर, की तरफ़ से भी हुआ है। मद्रास युनिवर्सिटी के टीचर्स-कॉलेज ने भी इस विषय पर एक बुलेटिन प्रकाशित की है। इटावा में भी इस संबंध में कुछ परीक्षण हो रहे हैं। परंतु इन बिखरे हुए परीक्षणों की अपेक्षा भारत के मनोवैज्ञानिकों के संगठित तथा सुनियंत्रित परीक्षणों की आवश्यकता है, तभी हम भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल किसी निश्चित प्रश्नावली पर पहुँच सकेंगे।

Index and Glossary.

Name Index.